ओ३म्

योग दर्शन

पतञ्जलि-मुनि प्रणीतम्

भारतदेश-भाषानुवाद-सहितम्

आवश्यकं तत्रतत्रोपयुक्त विशिष्टव्याख्यानैः परिबृंहितम्

मनुस्मृति, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, गीता
व्याख्याकारेण सामवेद भाष्यकारेण
वेदप्रकाश सम्पादकेन

श्री पं० तुलसीराम स्वामिना

सम्पादितम्

वार १०००] [मूल्य एक प्रति ॥)

प्रिन्टर-प० छुट्टनलाल स्वामी, स्वामी यन्त्रालय मेरठ।

ओ३म्

अथ योगदर्शन भाषानुवाद

प्राणायाम से आयुर्वृद्धि

प्राणायामसे आयुर्वृद्धिके अन्य अनेक प्रमाणोंके अतिरिक्त एक स्थूल प्रमाण यहभी है जो अश्रद्धकों अयोगियों और अविश्वासियोंको भी विश्वास दिलाता है, वैद्योंके अनुभव से स्वस्थमनुष्यके श्वास १ घड़ीमें ३००के लगभग माने हैं इससे अधिक श्वास चलनेसे आयु १०० वर्ष से घटेगी और न्यून चलने से बढ़ेगी। श्वासों पर आयु का अनुमान ऐसा है जैसे तैल बत्ती आदि के सहारे दीपक की आयु का अनुमान है। जैसे तैल बत्ती के रहते भी वायु वेग से दीपक बुझ जाता है वैसे श्वास न्यून लेने वाला भी योगी अन्य प्रबल निमित्त से मरजावे या मार डाला जावे तौ इस में प्राणायाम क्रिया का दोष नहीं। जैसे अधिक गाड़ी चलने वाली सड़क शीघ्र टूटती है, कुवे पर अधिक रस्सी चलने वाले लक्कड़ वा चौखटे शीघ्र टूटते हैं, अधिक घसापस से पहरे जाने वाले वस्त्र शीघ्र फटते हैं इसी प्रकार अधिक श्वास की रगड़ से आयु भी शीघ्र नष्ट होती है। योगदर्शन प्राणायाम द्वारा प्राण को वश्य करना सिखाता है अतः अयुर्वृद्धि में भी इसका उपयोग है। अन्य बड़ी २ सिद्धियें यथाक्रम इसके विभूतिपाद में वर्णित ही हैं; परन्तु अन्त में मोक्षार्थी पुरुष को सब सिद्धियों से वैराग्य करके कैवल्यार्थ यत्न करना सिखाने को गून्थकार ने कैवल्य नामक चतुर्थ पादके साथ गून्थ समाप्त किया है॥

योग एक दर्शन (फ़िलासफ़ी) है जिसको जान कर तदनुकूल पूर्ण वर्त्ताव करने से मनुष्य मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है परन्तु यदि पूर्ण साधन न भी कर सके और योग के किसी एक अङ्ग का साधन कर पावे तौ इस लोक में एक उत्तम धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाला अनेक दुःखों से (जो चित्तके अव्यवस्थिततत्वादि से होते हैं) बचने वाला सुख से जीवन व्यतीत कर सकता है, अन्त को जन्मान्तर में भी अच्छे जाति आयु और भोग पाता है और फिर उन जन्मान्तरों में योग का अभ्यास करता रहे तौ—

" अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो यान्ति परां गतिम् " के अनुसार अनेक जन्मों की सिद्धियें पाता २ अन्त में कभी मोक्ष पाजाता है॥

इस शास्त्र के आचार्य परमकारुणिक पतञ्जलि मुनि हैं जिन के नाम से लोग इसको पातञ्जल योगशास्त्र वा योगदर्शन कहते हैं। पतञ्जलि मुनि की प्रशंसा में किसी ने बहुत ठीक कहा है कि—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥१॥

जिस पतञ्जलि मुनि ने योगशास्त्र से मानसिक, व्याकरणशास्त्र से वाचिक और वैद्यकशास्त्र से शारीरिक (एवं तीनों शास्त्रों से कायिक वाचिक मानसिक) मल दूर किया, उसको हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूं॥

७ वें सूत्र में हमने "तत्र" इतना आरम्भ में कई पुस्तकों से अधिक पाठ माना है, क्योंकि वहां उसकी आवश्यकता भी है कई पुस्तकों में जो व्यास भाष्ययुक्त हैं वह पाठ पाया जाता है और व्यासजी ने ६ छठे सूत्र पर सुगम जान कर भाष्य नहीं किया अतः भाष्य का पाठ (तत्र) मूल में मिला मानना भी नहीं बनता। भोज महाराज ने भी छठे सूत्र पर स्पष्टम् मात्र लिख दिया है, तत्र पाठ नहीं माना किन्तु हमने सभाष्य पुस्तकों का अधिक आदर करते हुवे पाठ माना है॥

१६ वें सूत्र के आरम्भ में तत्परं पाठ ही ठीक और भाष्यानुकूल भोजवृत्त्यनुकूल और अन्य सब पुस्तकों के अनुकूल पाया गया केवल एक पुस्तक के तत्परं पाठ का न कहीं व्याख्यान है न पुस्तकान्तरों में मिला अतः त्याग दिया॥

इस प्रकार अन्य पाठ भी भाषादि की अनुकूलता पाकर यथाशक्ति निर्णीत करके लिखे गये हैं॥

इनके योगदर्शन में सब ४ पाद हैं जिनमें से प्रथम "समाधि-पाद" में ५१। द्वितीय "साधन-पाद" में ५५। तृतीय "विभूति-पाद" में ५४। और चतुर्थ "कैवल्य पाद" में ३४ एवं चारों पादों के १९४ सूत्र हैं इस कारण यद्यपि यह दर्शन बहुत छोटा है, तथापि सूत्रकारों की शैली के अनुकूल इस में बड़े विशाल विषय का वर्णन है। इस का प्रथम सूत्र शास्त्राधिकार प्रदर्शनार्थ यह है:—

१—अथ योगानुशासनम् ॥१॥

अब योगशास्त्र (आरम्भ करते हैं)॥

जिस प्रकार इन्हीं पतञ्जलि मुनि ने व्याकरण महाभाष्य में प्रथम "अथ शब्दानुशासनम्" कह कर अधिकार पूर्वक प्रतिज्ञा करके शब्द शास्त्र का वर्णन किया है, उसी शैली के अनुसार यहां भी प्रथम सूत्र में योगानुशासन की प्रतिज्ञा है फिर इस प्रश्न के उत्तरमें कि जिस योगशास्त्र का आरम्भ किया जाता है उसका पूरा वर्णन तो समस्त शास्त्र में होगा; परन्तु जिज्ञासु की रुचि के लिये दयालु ग्रन्थकार संक्षिप्त योग का लक्षण बताते हुवे यह उत्तर दूसरे सूत्र में देते हैं कि:—

२—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है।

यहां क्यों नहीं कहा कि चित्त की "सब" वृत्तियों का रोकना योग है, इसलिये कि ऐसा कहने तो "असंप्रज्ञात" योग का ही लक्षण रहता, "प्रसंज्ञात" योग जिसमें चित्त की "सब" वृत्तियों का निरोध नहीं होता योग वह भी है, परन्तु मुख्य योग असंप्रज्ञात–योग ही है, जिसमें क्या फल होता है सो तीसरे सूत्र में कहा है ॥

जिस चित्त की वृत्तियों का रोकना इस शास्त्र में कहा जायगा वह त्रिगुण संसृष्ट है सो जब वह प्रख्या रूप चित्त रजोगुण और तमोगुण से संसृष्ट होता (सनता) है तब ऐश्वर्य और विषयों से प्यार करता है और वही जब केवल तमोगुण से बिंधता (उसमें लिथड़ता) है तब अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य के पास पहुंचता है वही उसके मोह के आवरण (पर्दे वा ढकने) अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं तब सब ओर से प्रकाशमान रजोगुण की कुछ मात्रा से बिंधा (फँसा) हुवा धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य के समीप पहुंच जाता है। ऐश्वर्य का अर्थ वशित्व है भोग साधन बाहुल्यवत्व नहीं। फिर वही (चित्त) जब रजोगुण के लेश (मात्रा) से भी रहित हो जाता है, तो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और फिर उसमें इतनी ख्याति रह जाती है कि "सत्व पुरुष का अन्य भाव है" और तब चित्त धर्म और ध्यान में लगता है। उस समय उसको परंप्रसंख्यान कहते हैं ॥

ध्यान करने वाले की चितिशक्ति अपरिणामिनी (न बदलने वाली) अन्य में न दौड़ जाने वाली, विषय का ज्ञान देने वाली शुद्ध, अनन्त (जिसका अन्त दुर्लभ हो) और सत्वगुणात्मिका होती है। इससे विपरीत (ध्यान न करने वाले की) अविवेक ख्याति है इसलिये उस में चित्त नहीं लगता और उस ख्याति को रोक देता है, उस अवस्था वाला चित्त केवल संस्कार मात्र अपने पास रखता है यह निर्विकल्प समाधि है इसमें कुछ बाहर से ज्ञान नहीं लिया जाता इसलिये इसी को "असंप्रज्ञात" योग कहते हैं। यह संप्रज्ञात असंप्रज्ञात भेद से दो प्रकार का योग हुवा। यदि "सब" वृत्तियों का निरोध कहते तो संप्रज्ञात योग में लक्षण की अव्याप्ति रहती। इसलिये दोनों का सामान्य लक्षण करने को "सब = सर्व" शब्द नहीं रक्खा। अब तीसरे सूत्र में बताते हैं कि असंप्रज्ञात योग में क्या फल होता है:—

३—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

तब देखने वाले की अपने रूप में स्थिति हो जाती है

जब निर्विकल्प वा असंप्रज्ञात योग बन पड़ता है तो द्रष्टा को विषय ज्ञान तो रहता है पर अन्य विषय का नहीं किन्तु अपने आत्मा को ही आप ही विषय करता है। इस द्रष्टा के तीन अर्थ हो सकते हैं:—

१—द्रष्टा—विषयों को देखने वाला चित्त, अपने स्वरूप में वृत्तियों के निरोध से स्थिर हो जाता है। यदि रोगी को चित्त विक्षेप जनित दुःखों की घबराहट ने चित्त की वृत्तियाँ रोकने में लगाया हो तो बस यहीं सफलता पाकर ठहर जाता है, और:—

२-द्रष्टा-जीवात्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। यदि रोगी को पूर्व यह धुन लगी हो कि चित्त वृत्तियों की दौड़ से विषयों में फंस कर मुझे अपने स्वरूप का कि मैं क्या कहूं बोध नहीं होता तौ वह चित्तवृत्ति विरोध रूप असंप्रज्ञात योग में बस यहीं ठहर जाता है कि अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। परन्तु जो पुरुष वाह्य विषयों में दोष देखता हुवा वैराग्य बल से उपरति को प्राप्त होकर परमात्मा का साक्षात्कार इसलिये चाहता है कि आनन्दघन सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्दमें भाग लेऊं उसके लिये :—

३-द्रष्ट=चराचर के साक्षी परमात्मा के स्वरूप (सत्ता) में स्थिरता होजाती है, यह पक्ष काम देता है। यही उत्तम पक्ष है। यही स्वामी जी ने वेदभाष्य भूमिका में लिखा है। ईश्वर की खोज में भटकने वाले प्राणियों का सहायक यही पक्ष है॥

अब अगले सूत्र में यह कहते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध न किया जावे तो इसके विपरीत यह फल होता है कि :—

४-वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

अन्य अवस्था में वृत्तियों के समान रूप होता है।

जब चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता तब द्रष्टा चित्तवृत्ति रूप में तदाकार बन जाता है और वृत्तियोंके समान क्लिष्ट और अक्लिष्ट अवस्था वाला होता फिरता है, अथवा जब चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता तब पुरुष परमात्मा के वा अपने स्वरूप में स्थिति लाभ के बदले चित्तवृत्तियों के समान चञ्चलता को प्राप्त हो कर भटकता फिरता है। चित्त ऐसा है जैसे (अयस्कान्तमणि) चुम्बक पत्थर जो समीपस्थ लोहे को अपनी ओर खींच लेता है इसी प्रकार जब वृत्तियां रोकी न जावें और चित्तवृत्तियों को नाना विषयों के समीप जाने दिया जावे तौ वे झट विषयों को खैंच कर अपनी ओर ग्रहण करने लगती हैं जिससे विषय लम्पटता के झटके पटके सहने पड़ते हैं इसलिये मन की वृत्ति को रोकना चाहिये॥

अगले सूत्र में वृत्तियों से समान (तदाकार) चञ्चल चित के दुःख समझाने के लिये वृत्तियों के भेद वा प्रकार बताते हैं कि :—

५-वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

वृत्तियां पांच हैं और क्लिष्ट अक्लिष्ट, भेद से दो प्रकार की हैं।

आगे छठे सूत्र में जिन पांच वृत्तियों को गिनावेंगे, वे प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं। जो कर्माशय के समूह (ढेर) करने का क्षेत्र (खलिहान) हैं वे क्लिष्ट और जो केवल आत्मचिन्तन में लगी हुई सत्व रज तम तीनों गुणों के अधिकार का विरोध करती हैं वे अक्लिष्ट कहाती हैं, वे क्लेशदायक प्रवाह में पड़ी भी अक्लिष्ट हैं। दुःखद छिद्रों में सुखदा और सुखद छिद्रों (विघ्नों) में दुःखदा हो जाती हैं। इस प्रकार

वृत्तियों से सुख दुःखादि के संस्कार और संस्कारों से वृत्तियां चलती हैं तब निरन्तर वृत्ति और संस्कारों का चक्र चलता रहा है। चित्त और विषयों के सम्बन्ध होने से चित्त में जो परिणाम वा विकार उत्पन्न होते हैं उनका नाम वृत्ति है। सो यदि चित्त अपने अधिकार में स्थित (वश्य) हो जावे तब तो शान्त होकर आनन्दित हो सकता है और चञ्चलता से असंख्य विषयों में दौड़ता २ मर रहता है॥

अब उक्त ५ वृत्तियों के ५ नाम बताते हैं :—

६—प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

१–प्रमाण वृत्ति, २–विपर्यय वृत्ति, ३–विकल्प वृत्ति, ४–निद्रा वृत्ति और ५–स्मृति वृत्ति हैं।

इन पांचों के नाममात्र से कुछ समझ में नहीं आता, पर आगे क्रम से ७। ८ ९। १० और ११ वें सूत्रों में एक एक का कथन किया जायगा तब समझ में आजायेगा, इसलिये यहां इतना ही पर्याप्त है कि उनके नाम बता दिये गये॥

इन में से १–प्रमाण वृत्ति के भेद तीन हैं जिनको अगले सूत्र में गिनाते हैं कि—

७—तत्र प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

उन (५) में से प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (ये ३) प्रमाण वृत्तियां हैं॥

१–इन्द्रियां रूप नालियों में से चित्त के सांसारिक विषय वस्तुओं में बह कर उनका चित्त पर रङ्ग चढ़ जाने से सामान्य विशेष रूप विषय के विशेष (खसूसियत) का निश्चय करना कि यह यह है इस वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते हैं। जैसे–देवदत्त के चित्त में आंख इन्द्रिरूप नाली में को बह कर एक पुष्प के विशेष (खसूसियत) को पहचाना कि यह गुलाब का पुष्प है क्योंकि इसमें यद्यपि वे समानता भी हैं जो अन्य पुष्पों में रङ्ग रूप आकार की होती हैं परन्तु इतनी पहचान इसमें ऐसी है जो अन्य पुष्पों में इस प्रकार की (सामान्य) नहीं होती, इस लिये यह गुलाब का पुष्प है। बस चित्त की वृत्ति और गुलाब पुष्पाकार परिणाम १ प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति हुई॥

२–जिस पदार्थ का अनुमान करना हो उस पदार्थ को अनुमेय कहते हैं, उस अनुमेय के तुल्य प्रकार वाले पदार्थों में घटने वाला और अनुमेय से भिन्न प्रकार के पदार्थों में न घटने वाला जो सम्बन्ध है उस विषय की समानता का निश्चय करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण वृत्ति नाम की दूसरी वृत्ति है। जैसे चन्द्रमा और तारों को एक देश से दूसरे देश में गत देखते हैं परन्तु विन्ध्याचल पर्वत को एक देश से देशान्तर में गत नहीं देखते इस लिये चन्द्रमा और तारों के समान विन्ध्याचल पर्वत चल नहीं है स्थिर है इस प्रकार का निश्चय करना रूप जो चित्तवृत्ति है वह अनुमान प्रमाण वृत्ति नाम की दूसरी वृत्ति हुई॥

३-जब अपने चित्त की वृत्तियों को इन्द्रिय नाली में बहा कर विषय पदार्थ का ग्रहण न किया जाय और अनुमान प्रमाण वृत्ति से भी काम न लिया गया हो, किन्तु किसी यथार्थ वक्ता आप्त (प्रमाणिक) पुरुष ने प्रत्यक्ष वा अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध किया और फिर दूसरों को अपना बोध देकर समझाने को कोई शब्द (वार्तालाप) लिख कर वा कह कर उपदेश किया हो तब जो उस शब्द के सुनने से या पढ़ने से श्रोता वा पाठक के चित्त की वृत्ति उस शब्द के अर्थ (विषय पदार्थ) को ग्रहण करती है उस वृत्ति को आगम प्रमाण वृत्ति कहते हैं। इसके उदाहरण वेदों से लेकर आज तक के सब आप्तोपदेश हैं। अब दूसरी विपर्यय नाम की वृत्ति का वर्णन करते हैं कि :—

८—विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

वस्तु के स्वरूप से भिन्न स्वरूप में ठहरने वाला (अन्य में अन्य बुद्धिरूप) मिथ्याज्ञान " विपर्यय " है ॥

विपर्यय नाम उलटा ज्ञान जिसमें ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप से भिन्न कुछ का कुछ ज्ञात हो यह दूसरी चित्तवृत्ति है इसी को अविद्या कहते हैं, जिसके ५ भेद १—अविद्या, २-अस्मिता, ३-राग, ४-द्वेष और ५ अभिनिवेश हैं, जिनको ५ क्लेश करके आगे चित्त के मलों के वर्णन में कहेंगे। इन्हीं ५ के दूसरे नाम ये हैं १—तम, २-मोह, ३-महामोह, ४—तामिस्र और ५—अन्धतामिस्र। इस विपर्यय को प्रमाण वृत्ति से पृथक् मिलने का कारण यह है कि उलटा ज्ञान यथार्थ ज्ञान से हट जाता है ॥

अब विकल्प नाम की तीसरी वृत्ति बतलाते हैं कि :—

९—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्ये विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दज्ञान (मात्र) पर गिरने वाला (परन्तु) वस्तु से शून्य विकल्प कहाता है ॥

विकल्प वह वृत्ति है जिसमें ज्ञेय वस्तु (पदार्थ) कुछ न हो, केवल शब्द बोले जावें। जैसे-पुरुष की चेतनता। यहां पुरुष से भिन्न चेतनता कुछ वस्तु नहीं है तथापि शब्दमात्र ऐसा बोलने का व्यवहार है। किन्तु जैसे—देवदत्त की " गौ " इस वचन में देवदत्त और गऊ दो भिन्न २ वस्तु हैं ऐसे— " पुरुष की चेतनता " इस वचन में पुरुष से भिन्न चेतनता वस्तु नहीं है क्योंकि चेतनता ही तो पुरुष है पर तो भी ऐसा बोलने का व्यवहार (रिवाज) है बस इस व्यवहार की साधन रूप जो वृत्ति है उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति न तो प्रमाण में आ सकती थी, न विपर्यय में इसलिये तीसरी है। अब चौथी निद्रा वृत्ति का वर्णन करते हैं:—

१०—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभाव की प्रतीति का सहारा लेने वाली वृत्ति निद्रा है॥

यद्यपि निद्रा में कोई प्रतीति नहीं होती है, प्रतीति का अभाव हो जाता है,

तो भी निद्रा से जाग कर मनुष्य विचारता है कि मैं सुखपूर्वक सोया क्योंकि मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि निपुणता देती है इत्यादि। अथवा मैं दुःखपूर्वक सोया क्योंकि मेरा मन आलस्य भरा है घूम रहा, बे ठिकाने है इत्यादि। अथवा मैं गहरी मूढ़ता पूर्वक सोया; क्योंकि मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं मेरा मन थका, आलस्य भरा, चुराया सा है इत्यादि। इससे जाना जाता है कि यदि निद्रा कोई मनोवृत्ति न होती तो ये प्रतीतियां न होतीं। इससे प्रमाण, विपर्यय और विकल्प से भिन्न निद्रा एक चौथी वृत्ति है। अब पाँचवी स्मृति वृत्ति को ११ वें सूत्र बता कर पांचों वृत्तियों का वर्णन समाप्त करेंगे॥

११—अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः ॥११॥

अनुभूत विषय का न खोया जाना स्मृति कहाती है।

अनुभव किये हुवे विषय को स्मरण करना और अनुभव को स्मरण करना इन दोनों का नाम स्मृति है क्योंकि अनुभव के स्मरण बिना अनुभूत का स्मरण सम्भव नहीं। किसी पुरुष को एक बार देख कर दूसरी बार देखते समय यदि हम उस पुरुष मात्र का स्मरण करें तो तब तक न हो सकेगा जब तक हम पूर्व देख चुकने का स्मरण न करें। इसलिये किसी पदार्थ के अनुभव करने रूप और अनुभूत पदार्थ इन दोनों को बोध संस्कारगत पदार्थों में ढूंढना वा टटोल लेना (न भूल जाना वा न खोया जाना) स्मृति कहाती है। वह स्मृति भाष्यकार कहते हैं कि दो प्रकारकी है। १—भावितस्मर्त्तव्या, २—अभावितस्मर्त्तव्या। जिसमें स्मर्त्तव्य पदार्थ भावना किया गया हो वह भावित स्मर्त्तव्या नाम की स्मृति वृत्ति स्वप्न में होती है। दूसरी जिसमें स्मर्त्तव्य पदार्थ की भावना नहीं की गई, वह अभावितस्मर्त्तव्या नाम की स्मृति वृति जाग्रत् में होती है॥

इन वृत्तियों के निरोध का नाम योग कह चुके हैं। इस लिये अब आगे निरोध का उपाय बतलाते हैं:—

१२—अभ्यासवैराग्याभ्याँ तन्निरोधः ॥ १२ ॥

(बार २ रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है।

चित्तवृत्ति एक नदी के समान है जिस की दो धारें हैं। पुण्य और पाप दो स्थानों को वे दो धारें बहती हैं। जो कैवल्य रूप ऊपर के बोझ वा दबाव से विवेक रूप नीचे देश में बहती है, वह पुण्य स्थान को बहती है और जो संसार रूप ऊपर के बोझ वा दबाव से अविवेक रूप नीचे देश में बहती है वह पाप स्थान को बहती है। इसलिये बार बार अभ्यास करके और पाप बहा धारा के परिणाम दुःख भोगों और मलिनताओं के विचार करने से उत्पन्न वैराग्य द्वारा इनका निरोध करना चाहिये। वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है, और विवेकोत्पादक शास्त्रों के

अभ्यास से विवेक स्रोत का उघाड़ा जाता है इन दोनों के अधीन चित्तवृत्ति निरोध है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बताने को अगले ये सूत्र हैं :—

१३—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

उन (अभ्यास वैराग्य दोनों) में से ठहराव का यत्न करना अभ्यास कहाता है। वृत्ति रहित चित्त का ठहराव स्थिति कहाता है, उस स्थिति के लिये यत्न पुरुषार्थ और (हिम्मत) करना अर्थात् स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से उस स्थिति के साधनों का अनुष्ठान (अमल) करना = अभ्यास है ॥

अब अगले सूत्र में अभ्यास की रीति और दृढ़ता सम्पादन करना बताते हैं :—

१४-स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

और वह (अभ्यास) बहुत काल तक लगातार भले प्रकार सेवन करने से दृढ़ भूमि होजाता (जड़ पकड़ जाता है) ।

बहुत काल पर्यन्त लगातार तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धा आदि सत्कार पूर्वक अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

बार २ अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) वा अलिप्तता होने से मन एकाग्र होता है अन्यथा मन बड़ा चञ्चल है इसके भीतर अनेक सुसङ्कल्प कुसङ्कल्प उठा करते हैं। मन की गति रोकने वाले को प्रथम परमात्मा से यह भी प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन् ! मेरे मनमें बुरे संकल्प न उठें शुभ संकल्प उठें। जैसा कि वेद में प्रार्थना का उपदेश है :—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (यजुः ३४ । १)

हे भगवन् ! (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् अस्तु) शुभ संकल्प वाला हो (यत् जाग्रतः दूरम् उदैति) जो जैसे जागते का दूर जाता है (तत् सुप्तस्य उ, तथा, एव, एति) वह सोते का भी वैसे ही जाता है (दैवम्) दिव्य है (एकं ज्योतिषां ज्योतिः) एक, ज्योतियों की ज्योति है ॥

तात्पर्य यह कि मन जिस प्रकार जागते में विषयों में दौड़ा २ फिरता है, उसी प्रकार स्वप्न (निद्रा) में भी जब कि हाथ नहीं चलते, पैर नहीं चलते, कान नहीं सुनते नाक नहीं सूंघती आँखें नहीं देखतीं त्वचा नहीं छूती और समस्त बाहर के व्यापार बन्द होते हैं तब भी मन दौड़ने में वैसा ही फुरतीला रहता है जैसा जागते में। जब मनुष्य अपनी शक्ति भर इसके रोकने में श्रम करता है और नहीं रुकता तो कम से कम इस की गति को बुराई से रोक कर भलाई की ओर को ही फेरना चाहिये। उन भलाइयों में इसको बहुत दिनों तक दौड़ने देवे तो उन

(भलाइयों) के बदले परमात्मा प्रसन्न होकर इस असमर्थ जीवात्मा को मन रोकने का सामर्थ्य देते हैं और जब यह कृपा होती है, तब मानों कार्यसिद्धि में देर नहीं रहती। इस प्रकार मनको रोकने से पहिले शुभकर्मानुष्ठान के लिये छोड़ देना चाहिये जिससे हुई ईश्वर कृपा से इसके रोकने का सामर्थ्य प्राप्त हो। कदाचित् आप यह पूछेंगे कि जब कि " परमात्मा वाङ्मनोऽतीतः " अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं है, मन उसको नहीं पहचान सकता क्योंकि वह प्राकृत स्थूल है, अतः वह सूक्ष्मतम परमात्मा की भक्ति नहीं कर सकता। इस लिये मन उसकी भक्ति का साधन ही नहीं तो फिर उसकी भक्ति के उपाय (सूत्र २३) के अनुसार भक्ति में मन कैसे लगे ?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मन साक्षात् परमात्मा की भक्ति का साधन नहीं तथापि हमारा ज्ञान जो मन की प्रेरी हुई इन्द्रियों के द्वारा क्षीण होता रहता है वह क्षीण होना बन्द हो जावे और क्रमशः बढ़ता जावे जिस से हम उस महान उच्च मन की गति से दूर, परन्तु आत्मा में ही स्थित परमात्मा की भक्ति कर सकें। जिस प्रकार एक नहर से खेतों में पानी देते हैं परन्तु जो खेत पानी के बहाव से ऊंचे हैं उनमें पानी नहीं पहुंचता क्योंकि वह आगे को बहा जाता है। तथापि यदि उस पानी का आगे के बहाव का मार्ग रोका जावे, जैसा कि सलीपर डाल कर नहर वाले पानी को ऊंचा करते हैं तो उन ऊंचे खेतों में भी पानी की गति हो जाती है जिन में कि इससे प्रथम नहीं जा सकता था। ठीक इसी प्रकार मानवात्मा की परिमित ज्ञान और वह भी इन्द्रियों के छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण नहर (कुल्या) के पानी के समान बहता है तो भला फिर उस अपरिमित और अत्यन्त उच्च परमात्मा तक कैसे पहुंचे। मनुष्य का ज्ञान यथार्थ में इन्द्रिय छिद्रों द्वारा बहता है अर्थात् विषयों में खर्च होता है, इस कारण उसमें और भी न्यूनता हो जाती है। आप जानते हैं कि मनुष्यों को देखने का काम बहुत पड़े तो दर्शन शक्ति घट जाती है, चलने से पांव थकते हैं, सुनने से कान थकते हैं, इसी प्रकार विचारने से बुद्धि थकती है, स्मरण करने को बहुत बातें हों तो स्मृति थकती है। जिन लोगों का लेन देन थोड़ा है वे उसे स्मरण रख सकते हैं परन्तु जिनका व्यापार बहुत है वे स्मरणार्थ रजिस्टर वा बही और फिर भिन्न २ खाते का कागज़ लिखते हैं और तिस पर भी प्रायः भूलते हैं। कारण यही है कि ज्ञेय विषय के बढ़ जाने से ज्ञान सब में थोड़ा २ बट जाता है। जब कि सांसारिक पदार्थों के जानने में भी स्मृति के बट जानेसे कठिनाई होती है तो परमात्मा जो सब से सूक्ष्मतम है उसके जानने में जितनी कठिनाई पड़े सो सत्य है। इसलिये परमात्मा की भक्ति के अभिलाषी पुरुष को इन्द्रिय व्यापार से हटा कर ज्ञान को नहर के पानी के समान रोक कर उच्च बनाना चाहिये। इसलिये मन की अनन्यता ईश्वरभक्ति का उपाय है॥

परन्तु एक बार यह समझने मात्र से काम नहीं चल सकता कि चित्त वृत्तियों को बाहर न जाने दिया जावे, किन्तु आप नित्य देखते हैं कि एक विद्यार्थी को पाठ

वा अर्थ का ज्ञान करादिया जाता है परन्तु बारम्बार अभ्यास के बिना ज्ञान नहीं ठहरता। जब हम सड़क पर चलते हैं और अनुमान २४ अंगुल (१॥ फ़ुट) भूमि की चौड़ाई से अधिक अपेक्षित नहीं होती अर्थात् चाहे सड़क १० गज़ चौड़ी हो परन्तु हम केवल आधे गज़ मात्र चौड़ाई पर चलते हैं। हमें यह ज्ञान भी है कि हमारे चलने के लिये इतने से अधिक चौड़ाई की आवश्यकता नहीं; परन्तु क्या हम किसी ऐसी सड़क पर जो केवल आध गज़ ही चौड़ी हो, सुगमता से चल सकते हैं ? कभी नहीं। जब तक ऐसी संकुचित सड़क पर चलने का अभ्यास न हो, कभी निःशङ्क भावसे नहीं चल सकते। किन्तु अभ्यास की महिमा अपार है, अभ्यास होने पर न केवल उस आध गज़ चौड़ी सड़क पर चल सकते हैं प्रत्युत उस से भी अत्यन्त संकुचित केवल एक बहुत पतले तार पर भी चल सकते हैं, जो केवल संकुचित ही नहीं किन्तु हिलता भी है, जिसके टूट जाने का भी भय है, जो पृथ्वी से दूर है। परन्तु अभ्यास बड़ी वस्तु है, अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तियें कितनी भी रक्त हो निरुद्ध हो सकती हैं।

आगे वैराग्य का वर्णन करते हैं:—

१५–दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

देखे और (शास्त्र से) सुने विषयों की तृष्णा से रहित (चित्त का) वशीकार वैराग्य है ॥

अन्न पान मैथुनादि सांसारिक और मरणानन्तर अन्य जन्मों, अन्य लोकों तथा अन्य योनियों में शास्त्रानुसार मिलने वाले पारलौकिक विषयों में से उनकी असारता जान कर चित्त का हटाना वैराग्य कहाता है। जब ज्ञान बढ़ता है तो जो विषय सुख दायक जान पड़ते थे वे फिर दुःखदायक क्या दुःख रूप ही दीखने लगते हैं और इस प्रकार विषयों में दोष दीखने से उनका राग जाता रहता है और वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। जैसा कि सांख्य में कहा है कि—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेप्यनुवृत्तिदर्शनात्। (पता)

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति रूप सिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती क्यों कि उनसे दुःखनिवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य को क्षुधारूप दुःख है उसकी निवृत्ति के लिये वह दो पहर के १२ बजे ८ छटांक भोजन करता है और सायङ्काल के ८ बजे दूसरी बार क्षुधा लगती है। उसकी निवृत्ति के लिये फिर ८ छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिये कि क्या उसकी क्षुधा १२ बजे से ८ बजे तक ८ घण्टे के लिये निवृत्त हो जाती है ? कदापि नहीं। अच्छा क्या ६ बजे क्षुधा न थी ? अवश्य थी क्या इससे पूर्व न थी ? नहीं २ कुछ

न कुछ अवश्य थी, किन्तु वह ८ छटांक की क्षुधा जो सायंकाल ८ बजे पूरी क्षुधा हुई है वह ४ बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी और १ बजे दोपहर को भी एक छटांक की क्षुधा थी ही। वह क्रमशः एक २ घण्टे में एक २ छटांक बढ़ती आई और बढ़ते २ ठीक आठ बजे पुनः पूर्ववत् पूरी ८ छटांक मांगने लगी। इतना ही नहीं, किन्तु वह एक घण्टे के ६० वें भाग एक मिनट में १ छटांक का ६० वां भाग क्षुधा भी अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठे थे उसी समय वह पिशाची क्षुधा साथ २ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य भी किसी दृष्ट पदार्थ से दुःख की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिनसे हम दुःख की निवृत्ति और स्थिर सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उनके उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं किन्तु प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं, तब हमें क्या सुख दे सकते हैं ? इस प्रकार विचारा जावे तो बहुत सहज में दृष्ट सांसारिक पदार्थों की असारता समझ में आजाती है। तब फिर इन में ऐसा राग करना जैसा कि सर्वसाधारण करते हैं, योगी को नहीं रुचता। जब यह समझ में आ जाता है तभी इन विषय भोगों से वैराग्य उत्पन्न होजाता है॥

इसी प्रकार अन्य देह गेह आदि की भी नश्वरता समझ पड़ती है तब उन में राग नहीं रहता और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है॥

अब सांसारिक विषयोंमें वैराग्य होने पर क्या होता है सो कहते हैं कि मनुष्य किसी अधिक सुख में लग कर न्यून सुखों को दुःख रूप जानने लगता है। जानना चाहिये कि सांसारिक विषयों की असारता जानने के साथ २ साररूप किस सुख वा आनन्द में लग कर प्रकृति के गुण=सत्व, रज और तम के कार्य=राजस, तामस और सात्विक भोगों में तृष्णा नहीं रहती सो अगले सूत्र में कहते हैं:—

१६—तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

वैराग्य से आगे पुरुषकीर्त्तन से गुणों में तृष्णा नहीं रहती॥

सांख्यानुसार प्रकृति और पुरुष इन दोनों में से जब प्राकृत जगत् की असारता पर ध्यान गया तौ पुरुष के चेतनत्वादि धर्मों का कीर्तन स्मरण आदि करने लगने से सर्वथा गुणों में तृष्णा जाती रहती है और तब यह मुक्ति के समीप पहुंचने लगता है और तब इसे ज्ञान होने लगता है कि अहो! अब तो मैंने अपने प्रापणीय (मतलूब) को पा लिया, मेरे क्लेश क्षीण होगये, घने बन्धनों से युक्त भवबन्धन टूट गया, जिसके न टूटने से जन्म के पश्चात् मरण और मरण के पश्चात् जन्म का चक्र चलता ही रहता है, इत्यादि। सो मानो इस ज्ञान ही की पराकाष्ठा वैराग्य है। इस ज्ञान का ही योगी लोग जब निर्विघ्न लगातार सेवन और अभ्यास करते हैं तो मोक्ष पाते हैं॥

इस परात्पररूप वैराग्य से गुणों में तृष्णा न रहने से योग मार्ग में आये क्या अवस्था होती है, उसका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं:—

१७–वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के रूप को क्रम पूर्वक पाने से संप्रज्ञात (समाधि वा योग) होता है ॥

किसी स्थूल पदार्थ में चित्त लगाना वितर्क, सूक्ष्म इन्द्रियातीत विषय में मन लगाना विचार, हर्ष मनाना आनन्द और 'मैं एक आत्मा देहादि से भिन्न हूं' इस में मन लगाना अस्मिता कहाती है। इस प्रकार अनुगत शब्द को चारों के साथ जोड़ने से क्रम से चार प्रकार का संप्रज्ञात योग होता है। प्रथम 'वितर्कानुगत' जिस में सूर्य पृथवी आदि स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति आदि पर तर्क वितर्क उठते रहते हैं। इसके पश्चात् सूक्ष्म महत्तत्वादि का विचार जिसमें रहता है, वह द्वितीय "विचारानुगत" योग है। फिर इसके पश्चात् हर्ष अर्थात् अपने तर्क वितर्कों और सूक्ष्म पदार्थ जिज्ञासामें सफलता होनेसे बड़ा आनन्द अनुभव करना, जिसमें होता है। वह "आनन्दानुगत" तीसरा योग है और सब पिछली बातें छोड़ कर जब केवल आत्म चिन्तन करना मात्र मन में रहता है तब चौथा "अस्मितानुगत" योग बन जाता है ये चारों भेद संप्रज्ञात योग के हैं, जिनमें चित्त किसी न किसी और नहीं तो अपने आत्मा की ही चिन्ता में लगा रहता है पर इससे आगे "असंप्रज्ञात योग" है जिसका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं कि:—

१८--विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

जिस में पूर्व विरामप्रत्यय (चित्त वृत्तियों के अवसान मात्र) का अभ्यास करते २ संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं वह अन्य (दूसरा असंप्रज्ञात) योग (समाधि) है ॥

जिस में समस्त चित्तवृत्ति अस्त को प्राप्त हो जाती हैं, ऐसे प्रत्यय (प्रतीत वा ज्ञान) का बारम्बार अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास परम वैराग्य से होता है। जब सांसारिक विषयों में अत्यन्त दोष देख कर उन में अत्यन्त रागाऽभाव= वैराग्य होता है, तभी यह हो सकता है कि योग साधनेच्छु पुरुष चित्त की वृत्तियों को अस्त कर देवे और अस्त हो जाने पर मानो चित्त है ही नहीं, ऐसा उस चित्त की वृत्तियों का अस्त कर डाले और एक बार ऐसा कर लेना वा सोच लेना नहीं, किन्तु प्राणायाम के साथ बल पूर्वक इसका अभ्यास करते २ जब संस्कार मात्र रह जाय, अन्य कुछ न रहे, तब जानो "असंप्रज्ञात" दूसरा योग सिद्ध हुवा। इस असंप्रज्ञात समाधि के भी दो भेद हैं। एक भवप्रत्यय दूसरा उपायप्रत्यय। इन दोनों में प्रथम भवप्रत्यय को अगले सूत्र में कहते हैं:—

१९--भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

जो देह छोड़ देते और जो प्रकृति में लय को प्राप्त करते हैं उनको "भवप्रत्यय" नामक (असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध) होता है ॥

मनुज देह को त्याग कर जो विदेहत्व को प्राप्त है भवप्रत्यय (भव = जन्म का प्रत्यय = ज्ञानमात्र जिनमें रह गया है यह कि "जन्म था" यह तौ) विदेहों को प्राप्त होता है, जब तक देह है, तब तक नहीं प्राप्त होता। दूसरे जिन्होंने प्रकृति में चित्त का लय कर दिया हो उन्हें भी "भवप्रत्यय" समाधि सिद्ध हो जाता है और जब तक चित्त अपने अधिकार (वश) में रहा प्रकृतिमें लीन रहे तबतक समाधि बना रहता है। हां जब चित्त अपने अधिकार से निकलता है, तब वह समाधि खुल जाता है। ये दोनों प्रकार के पुरुष (विदेह और प्रकृतिलय) कैवल्य के सा अनुभव करने लगते हैं; यह व्यास भाष्य का मत है ॥

दूसरा "उपायप्रत्यय" योग वा समाधि अगले सूत्र में कहा जाता है :—

२०—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

अन्यों (विदेहों और प्रकृतिलयों से भिन्नों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (उपाय प्रत्यय नामक दूसरा असंप्रज्ञात योग) होता है ॥

जो योगी "उपायप्रत्यय" नामक "असंप्रज्ञात" समाधि लगाना चाहते हैं, उनको प्रथम श्रद्धा = चित्त का भले प्रकार प्रसन्न होना सम्पादन करना चाहिये फिर श्रद्धा जो कि माता के समान भलाई करने वाली है योगी की रक्षा करती है। उस श्रद्धा से युक्त विवेकार्थी योगी को वीर्य = वह बल उत्पन्न हो जाता है जिस से वह अगले उपायों के करने को समर्थ हो जावें, तब वीर्यवान् योगी को स्मृति उपस्थित होने पर चित्त शान्त व्याकुलता रहित हो जाता है, चित्त के समाधि = समाधान से प्रज्ञा = विवेक (कि मैं क्या हूं, जगत क्या है, ईश्वर क्या है, इत्यादि भेद) खुल जाता है, जिस से वह वस्तु को ठीक २ यथावत् जानने लगता है, उस यथार्थ वस्तु के ज्ञान का चिरकाल तक अभ्यास करने से उस से भी वैराग्य हो जाता है और इस प्रकार क्रम से "असंप्रज्ञात" योग को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के योगी भी ३ प्रकार के होते हैं। १-मृदूपाय, २-मध्योपाय, और ३-अधिमात्रोपाय, जिनमें से एक को अगले सूत्र में कहते हैं :—

२१—तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

तीव्र अच्छे वेग वालों को (योग) समीप है ॥

मृदुपाय के भी तीन भेद हैं। १-मृदुसंवेग, २-मध्यसंवेग, ३-तीव्रसंवेग। जो योगी अभ्यास और वैराग्य तथा श्रद्धा आदि में तीव्रता (तेज़ी) और भले प्रकार वेग-पूर्वक प्रवृत्त होता है, उसको शीघ्र योग समाधि सिद्ध होता है। ऐसे ही ३ में से प्रत्येक के तीन २ भेद करके सब ९ भेद हो आते हैं। जिनमें से भीः—

२२—मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

(तीव्र संवेग के भी) १-मृदु, २-मध्य, और ३-अधिमात्र होने से उससे भी विशेष (शीघ्रतर और शीघ्रतम योग प्राप्त होता) है ॥

तीव्र संवेग के भी मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद से तीन प्रकार हैं जिन से उत्तरोत्तर योग आसन्न = समीप, आसन्नतर = बहुत समीप और आसन्नतम = बहुत ही समीप हो जाता है । अर्थात् १-मृदुतीव्र, २-मध्यतीव्र, ३-अधिमात्रतीव्र; इनमें से प्रत्येक उत्तरोत्तर अधिक समीपता, शीघ्रता से समाधि प्राप्त कराने वाला उपाय है। जैसा कि १-मृदुतीव्र संवेगोपाय वाले योगी को समाधि आसन्न है । २-मध्यतीव्र संवेग को आसन्नतर और ३-अधिमात्र तीव्र संवेग को आसन्नतम है ॥

अब यह कहते हैं कि इन ३ वा ९ वा २७ आदि भेद भिन्न उपायों के अतिरिक्त कोई और भी उपाय है वा नहीं ? उत्तर—

२३--ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर के भक्ति विशेष से (समाधि अति ही समीप हो जाता है) ॥

पूर्वोक्त उपायों से अतिरिक्त "उपायप्रत्यय" योगियों के लिये अत्यन्त ही शीघ्र " असंप्रज्ञात " समाधि लाभ का उपाय यह है कि ऐसा अभिलाषी योगी ईश्वर की भक्ति में मन लगावे, उससे प्रसन्न हुवा परमेश्वर कृपा करके समाधि और उस के फल आनन्द को अत्यन्त ही समीप सिद्ध करा देता है। विशेष विवरण सूत्र (१४) पर कर आये हैं ॥ जिस ईश्वर की भक्ति से यह फल होता है, अगले सूत्र में उस ईश्वर का लक्षण करते हैं कि—

२४--क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेश, कर्म, कर्मफल और कर्मफल वासनाओं से असंबद्ध पुरुषविशेष ईश्वर है ॥

अविद्या आदि क्लेश, बुरे भले कर्म, उन कर्मों के फल, कर्म फलों की वासना ये हैं तो मन के काम, परन्तु पुरुष में व्यपदेश किये जाते हैं क्योंकि पुरुष (आत्मा) की इच्छा से मन में अविद्यादि प्रवृत्त होते हैं। जैसे युद्ध में योद्धा ही हारते जीतते हैं परन्तु राजा की हार वा जीत होती है, अतः राजा की आज्ञा से योद्धा युद्ध करते हैं क्योंकि राजा उस जय वा पराजय के फल को भोगता है, इसी प्रकार कर्म फलों का भोक्ता आत्मा (पुरुष) है इस लिये मन के किये कर्म और उनके फल आत्मा में व्यपदेश किये (कहे) जाते हैं। संसारी सभी जीव इन क्लेश कर्म आदि से बचे नहीं हैं, परन्तु इन जीवों (पुरुषों) के अतिरिक्त एक पुरुष बिशेष महेश्वर परमेश्वर इत्यादि पद वाच्य है जो इन क्लेश कर्मादि से सर्वथा बचा हुवा है। वही पुरुष विशेष २३ वें सूत्र में प्रणिधेय बताया गया है ॥

यदि कहो कि क्लेश कर्मादि से रहित तो बहुत से मुक्त जीव भी हो जाते हैं क्या वे ईश्वर नहीं हैं ? उत्तर-नहीं। यद्यपि मुक्तजीव तीनों बन्धनों को तोड़ कर मोक्ष

को प्राप्त होगये पर वे ईश्वर नहीं क्योंकि उन्होंने बन्धन से छूट कर मोक्ष पाया है इसलिये उनको मोक्ष से पूर्व बन्धकोटि हुई तो। किन्तु ईश्वर को कोई भी पूर्व वा पर बन्ध कोटि न हुई न होगी। वह तो सदा ही शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। ईश्वर के इस अनन्त असीम ऐश्वर्य का निमित्त वेदज्ञान है, वेद का निमित्त ईश्वर है। यह वेद और ईश्वर में अनादि सम्बन्ध है। जिससे कि ईश्वर का ऐश्वर्य ऐसा है कि न उसके समान न उस से अधिक किसी का ऐश्वर्य है। इस लिये ईश्वर सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्यवान् होने से पुरुष विशेष चराऽचरात्मा सर्वान्तर्यामी कूटस्थ सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर अजर अमर अभय नित्य शुद्ध पवित्र इत्यादि विशेषण विशिष्ट और सर्वज्ञ है। जैसा कि अगले सूत्र में कहते हैं कि:—

२५—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

उस (ईश्वर) में सर्वज्ञ होना ऐसा निमित्त है जो उस से अधिक किसी में नहीं ॥

यद्यपि मनुष्यों में भी कोई लोग महाविद्वान् होने से सर्वज्ञ कहाते हैं परन्तु वे ऐसे सर्वज्ञ नहीं कि उनसे अधिकज्ञ कोई न हो किन्तु ईश्वर ही ऐसा सर्वज्ञ है जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय = सब से बढ़ कर है ॥

स्वामी हरिप्रसाद जी ने "योगसूत्रवैदिकवृत्ति" में "सर्वज्ञबीजम्" पाठ माना है और 'सर्वज्ञबीजम्' पाठ को प्रामादिक बताया है। जहां तक अर्थ पर ध्यान दिया जाता है व्यास भाष्य का तात्पर्य भी "सार्वज्ञबीजम्" पाठ से ही ठीक लगता है और किसी का भी अर्थ सर्वज्ञ बीजम् पाठ से ठीक नहीं बैठता, परन्तु हमने "सर्वज्ञबीजम्" पाठ मूल में इसलिये रक्खा है कि व्यास भाष्य युक्त आर्यावर्त्त यन्त्रालय कलकत्ता सन १८०६ ई० के छपे पुस्तक विरजानन्द यन्त्रालय लाहौर सम्बत् १६४६ वि० के व्यास भाष्य युक्त पुस्तक विरजानन्द प्रेस के षड् दर्शन मूल पुस्तक और श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय मुम्बई के सम्वत् १६५६ वि० के भाषा टीका युक्त पुस्तक, इन सब में और स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के उद्धृत वेद भाष्य भूमिकास्थ सूत्र में "सर्वज्ञबीजम्" पाठ देखा जाता है इस लिये कदाचित् आर्ष पाठ यही हो; इस कारण पाठ को यथाऽवस्थित ही रक्खा है ॥

यदि कोई कहे कि वेद के प्रकाशक पूर्वज ऋषियों में भी तो सर्वज्ञता पाई जाती है, क्योंकि वेद सब विद्याओं का बीज है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि:—

२६—स एष पूर्वेषामपि गुरुःकालेनाऽनवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वह यह (पूर्व सूत्रों २४। २५ में उक्त ईश्वर) पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि काल से नहीं कटता ॥

पूर्वज वेदप्रकाशक महात्मा लोग न सदा से थे न सदा रहे, न रहेंगे। वे काल से कटने वाले हैं, परन्तु परमेश्वर कालाऽवछिन्न नहीं कि किसी काल में हो, किसी में न हो। इसलिये वह सर्वकालस्थ होने से उस समय भी सर्वज्ञ है जब कि

प्रलय काल में कोई मनुष्य ऋषि मुनि महात्मा वेद ज्ञान का धारण करने वाला नहीं रहता उस काल में भी वेद ज्ञान ईश्वर में रहता है। इस कारण ईश्वर ही सर्वज्ञ है, उसी में ऐश्वर्य=ईश्वरपने की, सर्वज्ञपने की और सर्वशक्तिमानपने की पराकाष्ठा है, जिससे आगे न किसी की सर्वज्ञता, न सर्वैश्वर्य और न सर्वशक्तिमत्ता है ॥

इस सूत्र के आरम्भ के "स एषः" शब्द भी "योग सूत्र वैदिक वृत्ति" के अतिरिक्त अन्य सब पुस्तकों में पाये जाते हैं और व्यास भाष्य में भी पाये जाते हैं इसलिये यद्यपि २४ वें सूत्र में ईश्वरः पद की अनुवृत्ति से काम चल जाता है जैसा कि उक्त वृत्ति में स्वामी हरिप्रसाद जी ने किया है तथापि बहु सम्मत होने से हमने उन दोनों पदों का अनादर नहीं किया ॥

अब उस ईश्वर की भक्ति कैसे करनी चाहिये यह दिखाने को प्रथम ईश्वर का वाचक शब्द बताते हैं:—

२७—तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उस (ईश्वर=वाच्य) का वाचक प्रणव (ओ३म्) है ॥

ईश्वर और ओ३म् में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। ईश्वर=वाच्य अर्थ है ओ३म्=वाचक शब्द है। अर्थात् ओ३म् शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है। यह सम्बन्ध यद्यपि सांकेतिक है अर्थात् रक्खा हुवा नाम है पर जैसे पिता पुत्र में पिता पुत्र शब्द न हों तब भी एक सम्बन्ध है। ऐसे ही ईश्वर और ओ३म् शब्द में सम्बन्ध नित्य है, यद्यपि वह संकेत के शब्द द्वारा प्रकट होता है परन्तु संकेत के प्रकट किया जाने पर भी केवल सांकेतिक ही नहीं किन्तु यथार्थ है ॥ अब ईश्वर के वाचक ओ३म् को बता कर उसकी भक्ति करने की रीति बताते हैं:—

२८—तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस (ओ३म्) का जपना और उस (ओ३म्) के अर्थ=ईश्वर का अनुभव ॥

योगी को ओंकार का जप करना चाहिये और ओंकार के अर्थ ईश्वर का परम प्रेम से भक्ति पूर्वक आत्मा में अनुभव करना योग्य है। ऐसा करने से ईश्वर की कृपा होती है और उसकी कृपा से योगी का चञ्चल भी चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। चित्त के समाधान से पुरुष ख्याति (पुरुष का प्रकृति और उसके कार्यों से भेद समझ जाने) से वैराग्य होता और वैराग्य से फिर असंप्रज्ञात योग सिद्धि बहुत समीप रह जाती है ॥ अब यह कहते हैं कि क्या ईश्वर प्रणिधान से झट ही समाधि सिद्धि हो जाती है? वा अन्य कुछ भी:—

२९-ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च ॥ २९ ॥

उस (ईश्वर प्रणिधान) से प्रत्येक चेतन का ज्ञान और विघ्नों का अभाव हो जाता है ॥

इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह पराक् = बाहर का होता है, भीतर (प्रत्यक्) का नहीं। परन्तु ईश्वर प्रणिधान करने से योगी को प्रत्यक् चेतन = भीतरी जीवात्मा के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने लगता है और आगे वक्ष्यमाण व्याधि आदि विघ्न भी नहीं होते ॥

तात्पर्य यह हुवा कि ईश्वर की भक्ति से उसकी कृपा द्वारा रोगादि विघ्नों का अभाव, उससे संप्रज्ञात योग, उस से पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान, उससे प्राकृत पदार्थों में वैराग्य, उससे असंप्रज्ञात समाधि और तब मोक्ष ॥

अब उन विघ्नों की संज्ञा और गणना करते हैं जो विघ्न कि ईश्वर प्रणिधान से हट जाते = नहीं रहते हैं :—

३--व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

१–व्याधि, २–स्त्यान, ३–संशय, ४–प्रमाद, ५–आलस्य, ६–अविरति, ७–भ्रान्तिदर्शन, ८–अलब्ध भूमिकत्व और ९–अनऽवस्थितपना; ये चित्तके विक्षेप करने वाले विघ्न हैं ॥

१–वात पित्त कफ धातुओं और भोजन परिपाक जनित रसों और इन्द्रियों के व्यवहारों की विषमता (गड़बड़) से जो ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं वे " व्याधि " २–चित्त में किसी काम का लोभ होते हुवे भी उस काम को न कर सकना " स्त्यान " ३–यह योग साधूं वा नहीं, ऐसी द्विविधा में पड़ जाना " संशय " ४–योग के यम नियमादि अङ्गों के अनुष्ठान में ढील (ग़फ़लत) करना " प्रमाद " ५–योगाङ्गों के अनुष्ठान में कफ़ादि से वा अन्धकारादि तामस प्रभाव से देह और चित्त का भारीपन " आलस्य " ६–चित्त का अन्य विषयों में फंसजाना " अविरति " ७–मिथ्या ज्ञान वा अन्य में अन्य बुद्धि वा गुरु के उपदेश किये योगाङ्गों को योगाङ्ग न समझना " भ्रान्तिदर्शन " ८–योगांगों का अनुष्ठान करके भी मधुमती आदि योगभूमियों को न प्राप्त होना " अलब्धभूमिकत्व " और ९–योगभूमियों को प्राप्त होकर भी वहां स्थिर न रह सकना " अनवस्थितत्व " कहाता है। ये ही नव ९ योगमल चित्त विक्षेप और अन्तराय = विघ्न भी कहाते हैं जो योग के विरोधी शत्रु हैं; और इनमें से संशय और भ्रान्तिदर्शन तो साक्षात् चित्तवृत्ति ही हैं जो निरोध के विघ्न स्पष्ट हैं। शेष सात ७ व्याधि आदि बचे सो वृत्तियों के साथी होने से उस (योग) के शत्रु वा विघ्न हैं ॥

९—चित्त विक्षेप बता कर अब इन विक्षेपों के पांच ५ साथी विक्षेप सहभू हैं, उनको निर्देश करते हैं :—

दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

१-दुःख, २-दौर्मनस्य, ३-अंगमेजयत्व, ४-श्वास, और ५-प्रश्वास; ये विक्षेपों के साथ होने वाले (साथी) हैं ॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीनों तापों को, जो बुरे लगते हैं और जिनसे सब भागते हैं १-दुःख कहते हैं. इच्छा पूरी न होने से जो चित्त में क्षोभ होता है उसको २ दौर्मनस्य कहते हैं। आसन और मन के स्थिर न होने से देह का सधना (हिलना) अङ्गमेजयत्व है। बिना पूरक वा रेचक प्राणायाम के अपने आप बाहर के वायु का नासिका के छिद्रों द्वारा भीतर जाना ४ श्वास और फिर बाहर निकलना ५-प्रश्वास कहाता है॥ विक्षिप्त चित्त वाले को व्याधि आदि ६ योगमलों के साथ ये उनके साथी ५ दोष होते हैं, समाहित चित्त वाले को नहीं होते। इस लिये इन विघ्नों के निवारणार्थ ईश्वर प्रणिधान का उपसंहार करते हुवे कहते हैं कि:—

३२-तत्प्रतिपक्षार्थमेकत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

उन (६ विक्षेपों और ५ उनके साथियों) के निवारणार्थ एक तत्व (प्रकरण से ईश्वर स्मरण) का अभ्यास करे॥

चित्त की एकाग्रता में कई तर्क हैं। १-यह कि चित्त तौ स्वभाव से चञ्चल है, वह एकाग्र कैसे हो सकता है ? उत्तर-स्वभाव से चञ्चल होता तौ लौकिक विषयों के भोगते हुवे किसी १ एक विषय में कुछ देर तक क्यों लग जाता। २-यह कि विषयों के प्रवाह में चित्त एकाग्र समझा जाता है अर्थात् एक विषय के अवान्तर भेदों में भटकता हुवा भी चित्त सामान्य कर एक विषय में लगा रहने से एकाग्र कहाता है, वस्तुतः चञ्चल ही है। उत्तर-तुम्हारे मत में चित्त क्या वस्तु है ? यदि चिन्तन को चित्त कहो तौ चिन्तन क्षण २ में बदलते हैं. क्या चित्त भी बदलता है ? यदि ऐसा हो तौ कोई पूर्वदृष्ट विषय को यह न माने कि मैंने इसको पूर्व देखा था क्योंकि पूर्व दृश्य का द्रष्टा क्षणिक चित्त अब नहीं रहा बदल गया। ३-यह कि चित्त स्वभाव से अपने आप एकाग्र भी हो जाता है। उत्तर-ऐसा होता तौ चित्त विक्षिप्त क्यों होता जैसाकि प्रत्यक्ष पाया जाता है। इसलिये चित्त एक ऐसा पदार्थ है जो एकाग्र करने का यत्न करने से एकाग्र और न करनेसे विक्षिप्त हो जाता है। इस कारण एकाग्रता का विक्षिप्त करने वाले विघ्नों के निवारणार्थ एक तत्व (ईश्वर) का नाम स्मरण ओंकार का जप और उसके अर्थ के विचार में लगाया जावे यह उपाय है यहां वार्त्तिककारादि लोग एकतत्व शब्दसे किसी एक स्थूल लक्ष्य पर चित्त लगाना कहते हैं परन्तु (" एकोदेवः सर्व० " श्वेताश्व० ६। ११) प्रमाण से ईश्वर एक है, उसी का स्मरण, कीर्त्तन यहां इष्ट है॥

समलचित्त से ईश्वर भक्ति नहीं हो सकती; इस लिये निर्मल चित्त द्वारा ईश्वरभक्ति सधनेके उपयोगी चित्तके निर्मल करने का उपाय अगले सूत्रमें कहते हैं:—

३३—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखियों में मित्रता, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं पर हर्ष और पापियों से उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है ॥

चित्त की मलिनता दूर करने को चाहिये कि सब सुख भोग सम्पन्नों को देख कर मित्रता की भावना करनी चाहिये कि "बहुत अच्छा है कि ये मेरे मित्र सुखी हैं"। दुःखितों पर दया करना कि "किस प्रकार इन बेचारों का दुःख दूर हो"। पुण्यात्माओं पर हर्ष करना " कि बहुत हर्ष की बात है कि आप लोग पुण्यानुष्ठान करते हैं " इससे पुण्यात्माओं का उत्साह बढ़ता है। और पापियों की उपेक्षा करने से अपने से क्रोध की कलुषता दूर रहती है ॥ प्रसन्न हुवा चित्त ईश्वर प्रणिधानादि में स्थिरता को प्राप्त हो जाता है ॥

अब यह बताते हैं कि मैत्री करुणादि द्वारा प्रसन्न हुवा चित्त जिस प्रकार ईश्वर भक्ति से स्थिर होता है, क्या कोई अन्य भी उपाय है, जिस से चित्त स्थिर हो? हां है। वह दूसरा पक्ष आगे बतलाते हैं:—

३४—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

अथवा प्राण को बल से बाहर निकालने और रोकने से (भी चित्त स्थिर होता है) ॥

चित्त स्थिर करने का दूसरा यह उपाय है कि देर तक बार बार प्राणायाम किया जाय। प्राणायाम एक प्राण का व्यायाम है। जैसे दण्ड बैठक आदि शारीरिक व्यायाम (कसरत) करने से शरीर सुडौल नीरोग रहता है, वैसे ही भीतर के श्वास को वेग से बाहर फुङ्कार मार कर निकालने और उसको यथाशक्ति बाहर रोकने वा शनैः २ भीतर लेकर भीतर रोकने का अभ्यास करने से प्राणायाम वश में हो जाता है, प्राण के वश में होने से भी चित्त वश्य (स्थिर) हो जाता है ॥

अब तीसरा उपाय कहते हैं कि:—

३५—विषयवतिवाप्रवृत्तिरुत्पन्नामनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३४ ॥

अथवा (दिव्य) विषयवती चित्त की तीव्र वृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति बांधने वाली होती है ॥

नासिका के अग्र भाग में धारण ध्यान और समाधि करने वाले को उसके जीतने से दिव्य गन्ध आने लगता है। इसी प्रकार जिह्वा के अग्र भाग में संयम करने से दिव्य रस का स्वादु आने लगता है। तालु संयम से दिव्य रूप दिखाई देने लगता है। जिह्वा के मध्य में संयम से दिव्य स्पर्श जान पड़ता है। जिह्वा के

मूल में संयम से दिव्य शब्द सुन पड़ते हैं। दिव्य शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे शब्द स्पर्शादि स्थूल विषय हैं वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म विषय इस (दिव्) आकाश में भरे पड़े हैं जिसका अनुभव हमको इस लिये नहीं होता कि हम योग शास्त्रानुसार नासिकाग्र आदि में संयम नहीं करते। संयम करने से जब इन सूक्ष्म विषयों का अनुभव होने लगता है तब शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश में श्रद्धा होने लगती है कि देखो जो द्रव्य गन्धादि की प्रवृत्ति शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश से सुनी जाती थी, वह सत्य है। इसलिये ईश्वर मुक्ति आदि विषयों में भी जो परोक्ष है प्रत्यक्ष हो जायेंगे ऐसा निश्चय होने लगता है। फिर गुरूपदिष्ट मार्ग से योगी निरोकाग्रता करके असंप्रज्ञात समाधि लगाने लगता है॥

इसके एक पुस्तक में जो योग सूत्र वैदिक वृत्ति सहित मुम्बई निर्णयसागर यन्त्रालयका छपाहै, (निवन्धनी) पाठहै। शेष सब (निबन्धनी) है अर्थ दोनोंका शुद्ध है॥

३६–विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोक रहिता और ज्योति वाली (उत्पन्न हुई प्रवृत्ति मन की स्थिति को बांधने वाली है) ॥

अथवा हृदय कमल में संयम करने से जहां रजोगुण तमोगुण न हो प्रवृत्ति शोक रहित हो जाती है, तथा अस्मिता मात्र प्रकाशमय में संयम करने से प्रवृत्ति प्रकाशवती हो जाती है सो यह शोक रहिता ज्योति वाली प्रवृत्ति भी मन को स्थिर कर देती है। अर्थात् शोक रहिता ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से योगी चित्त को स्थिर करे॥

अब चौथा उपाय कहते हैं:—

३७–वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा राग रहित चित्त (स्थिर हो जाता है) ॥

जिस चित्तमें सांसारिक किसी विषय की लिप्सा न रहे सबसे वैराग्य होजावे, वह चित्त भी किसी विषय के राग न होने से किसी विषय पर चलता नहीं और स्थिर हो जाता है॥ अब पांचवां उपाय बताते हैं:—

३८–स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्न ज्ञान और निद्राज्ञानका सहारा लेने वाला (चित्त स्थिर होजाता है) ॥

स्वप्न (नींद) में जैसे बाह्य विषयों का ग्रहण नहीं होता और निद्रा (सुषुप्त) में जैसे बाह्याभ्यन्तर कोई विषय नहीं रहते इसी प्रकार स्वप्न और सुषुप्ति कैसा चित्त का संयम करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है॥

कलकत्ता आर्यावर्त यन्त्रालय सन् १८८९ ई० के व्यास भाष्ययुक्त पुस्तक में और लाहौर विरजानन्द यन्त्रालय सम्वत् १९४६ वि० के छपे व्यास भाष्य युक्त पुस्तक

में भी ३७ वां पूर्व सूत्र (वीतरागविषय वा चित्तम्) नहीं मिलता न उसका व्यास भाष्य मिलता है परन्तु अन्य स्थानों में छपे पुस्तकों में और विरजानन्द यन्त्रालय के ही छपे षड्दर्शन मूल गुट के में भी पाया जाता है तथा हमारी समझ में भी यह आता है कि यह सूत्र अवश्य होना चाहिये क्यों कि ३५ वें सूत्र से जिस "प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी" पदों की अनुवृत्ति ३६ वें सूत्र में हुई वह तो स्त्रीलिङ्ग थी यहां ३८वें में 'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्' यह नपुन्सकलिङ्ग है और यह चित्त का विशेषण है और हो सकता है प्रवृत्ति का नहीं। इस लिये ३७ वें सूत्र में से "चित्तम्" की अनुवृत्ति लाकर ३८ वें का अर्थ ठीक हो सकता है बिना उसके काम नहीं चल सकता; तथा व्यासभाष्य में भी "चित्तम्" पद को बर्ता गया है इस से जान पड़ता है कि ३७ वां सूत्र अवश्य चाहिये और अनुमान होता है कि व्यास भाष्य-युक्त दोनों पुस्तकों में यह ३७ वां सूत्र छूट गया है और उसका कारण कदाचित् यह हो कि किसी एक खण्डित (इस ३७ वें से रहित) एक पुस्तक से ही ये दोनों पुस्तक छपे हों वा इन दोनों पुस्तकों में से एक ने दूसरे का आश्रय लिया हो। सुतराम् चाहे यह ३७ वां सूत्र व्यासभाष्य के पश्चात् भी बनाया गया हो वा कुछ हो। इस समय तो यह सूत्र आवश्यक और प्रकरण को सङ्गत करने वाला जान पड़ता है जिससे हमने दिया है॥

अब अन्त में छठा उपाय बता कर उपायों को समाप्ति करते हैं:—

३९—यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अथवा जिसको चाहे उसके ध्यान करने से (भी चित्त स्थिर हो जाता है)॥

मन को सब वस्तुओं में से कोई एक सबसे अधिक अभिमत (पसन्द) होता है, उसी के ध्यान करने से भी चित्त उस में लगना सीख जाता है फिर वशीभूत चित्त को अन्यत्र भी लगा सकते हैं॥

नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्द्धा, नासिकाग्र, ज्योति=चन्द्र, सूर्य अन्य तारा, मणि मुक्ता आदि किसी चमकीली वस्तु वा अन्य जिस किसीको अभिमत (पसन्द) करे उस में चित्त लगाकर स्थिरता सिखावे फिर वशीभूत चित्त शास्त्रोपदिष्ट पदार्थ में लगना सुगम हो जाता है॥

इस में पं० रुद्रदत्त जी का मत यह है कि अगले (४० वें) सूत्र में जो दो (१ परमाणु २ परममहत्व) कहे हैं उन दोनों में से जो अपने को अभिमत हो उसी का ध्यान करे॥

अब यह कहते हैं कि हम चित्त का स्थिरता के पक्केपन को कैसे जानें कि पक्की रीति पर अब चित्त स्थिर हो गया ?

४०—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

परम अणु और परम महत्व तक इस (चित्त) का वशीकार हो जाता है॥

चाहे तो परम अणु=सब से छोटे पदार्थ में चित्त को लगादे और चाहे तो बड़े से बड़े में। जब यह अधिकार चित्त पर योगी को हो जावे तब जानों कि चित्त वश्य हो गया ॥

प्रश्न—इस प्रकार वश्य चित्तकी किस विषयक और किस स्वरूप की समाधि होती है ?

४१—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

स्फटिक मणि के तुल्य निर्मल (प्रमाण विपर्ययादि ६ सूत्रोक्त) वृत्तियां क्षीण हो गई हैं जिस की ऐसे (चित्त) के गृहीता गृहण और ग्राह्यों में उन में स्थित होकर उन्हीं के से स्वरूप को प्राप्त हो जाने को समापत्ति (कहते हैं) ॥

चित्त वशीकार में चित्त की क्या दशा वा क्या स्वरूप वा किस विषय की अवस्था हो जाती है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में यह सूत्र कहता है कि पूर्व ४० वें सूत्रानुसार जब चित्त परम अणु और परम महान पदार्थों तक संयम सीख जाता है तो फिर "समापत्ति" = संप्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है। समापत्ति उसे कहते हैं कि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांचों वृत्तियें जिस चित्त की क्षीण हो जाती हैं तो फिर वह चित्त जिस ग्राह्य विषय में लगाया जाता है नितान्त तद्रूप हो जाता है। अर्थात् यदि उसे हाथी के देखने में लगादें तो बस चित्त स्वयं हाथी में स्थित होकर हाथी रूप बन जाता है। इसी प्रकार अन्य विषयों में समझिये। ऐसे ही जिस गृहण=इन्द्रिय- चक्षु आदि में संयम करो उसी चक्षु आदि के तद्रूप चित्त स्वयं बन जाता है। अर्थात् जब चित्त को आंख, नाक, कान, इत्यादि किसी ग्रहण (साधन=इन्द्रिय) में लगाया जावे तो चित्त निरा तदाकार बन जावे (ऐसे ही जब चित्त को ग्रहीता (अहङ्कारविशिष्ट आत्मा) में लगाया जावे तो बस चित्त आपे को भूल कर स्वयं पुरुषाकार बन जावे। इसमें दृष्टान्त मणि का है कि जैसे अभिजात=उत्तम जाति के मणि=स्फटिक में कोई रङ्ग नहीं है, वह निर्मल-स्वच्छ है पर जवाकुसुम जो रक्त पुष्प होता है, उसकी समीपता उसकी रक्तता (सुर्खी) की झलक पाकर स्फटिक निरा रक्त जान पड़ता है, नीलोत्पल के समीप रखने से नीले और पीले पुष्पादि के सामीप्य से स्फटिक भी पीला जान पड़ता है। ऐसे ही क्षीणवृत्ति चित्त ग्राह्य (विषय) गृहण (इन्द्रियें) और गृहीता (अहङ्कार सहित आत्मा=जीवात्मा) इन तीनों में से जिसमें संयम करो (जिसमें लगावो) उसी के सा स्वरूप धारण करने लगता है। जैसे लोक में किसी पदार्थ की अत्यन्त कामना करने वाले चित्त की जब उस अत्यन्त इष्ट एक पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी में इच्छा नहीं रहती तब उस चित्त में वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं, और चलते फिरते, खाते पीते, सोते जागते उसे वही एक विषय रह जाता है क्यों कि जो चित्त सब विषयों का गृहण करने वाला है, वही जब किसी एक स्थूल वा सूक्ष्म पदार्थ में

(ततस्थ) स्थित होगया और (तदञ्जन) उसी पदार्थ के स्वरूप में परिणत होकर तदाकार होगया तब अन्य कुछ किसको सूझे ? चित्त के इतने एकाग्र हो जाने को समापत्ति कहते हैं।

अब समापत्ति के चार भेद कहते हुवे प्रथम सवितर्का समापत्ति का कथन करते हैं कि :—

४२—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

उन (४) में सवितर्का समापत्ति वह है जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित हो ॥

समापत्ति में चित्त तदाकार हो जाता है परन्तु कल्पना करो कि एक पुरुष ने गौ में चित्त को लगा कर तदाकार करके समापत्ति की तौ जब तक गौ शब्द और गौ का अर्थ पशुविशेष और इन (शब्द और अर्थ) को मिलाकर जो कुछ समझा जाता है वह ज्ञान, इन शब्द अर्थ और ज्ञानो के विकल्प रहें तब तक उस समापत्ति को सवितर्का कहते हैं क्यों कि उसमें शब्द भी मिश्रित हैं अर्थ भी, और उन दोनों का ज्ञान भी ॥

परन्तु जब शब्द और ज्ञान के विकल्प भी न रहें तब निर्वितर्का समापत्ति होती है जिसको अगले सूत्र में कहते है कि:—

४३—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।४३।

स्मृति के मार्जित (दूर) होने पर अपने स्वरूप से शून्य सी केवल अर्थ (ग्राह्य विषय) मात्र का जिसमें भान हो, वह निर्वितर्का (समापत्ति है) ॥

सवितर्का समापत्ति में, इस शब्द का यह अर्थ है, ऐसी स्मृति मिली रहती है पर निर्वितर्का में स्मृति का काम नहीं रहता न ज्ञान का काम रहता, केवल ग्राह्य पदार्थ के स्वरूप को चित्त धारण कर लेता है; तब चित्त मानो अपने स्वरूप से शून्य सा होजाता और अर्थ (ग्राह्य विषय) मात्र स्वरूप से भान होता है। उस चित्त की दशा को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। भाव यह है कि जैसे सवितर्का में गौ, अश्व, घट, पट आदि शब्द और इन शब्दोंके वाच्य पशु विशेष; मृत्परिणाम वा तन्तुपरिणाम विशेष और यह ज्ञान कि इस २ शब्द का यह २ अर्थ (वाच्य ग्राह्यविषय पदार्थ) है ये तीनों (शब्द, अर्थ, ज्ञान) मिले रहते हैं वैसे निर्वितर्का में नहीं, क्यों कि अभ्यास के पक जाने से वार वार गौ आदि शब्दों से पशु विशेषादि अर्थ का ग्रहण करते करते इस स्मृति की आवश्यकता ही नहीं रहती कि शब्द क्या और उस का अर्थ क्या। किन्तु चित्त जिस पदार्थ में लगाया जावे, झट उस पदार्थ का स्वरूप

धारण करके तद्रूप बनजावे। अर्थ और शब्द तथा इन दोनोंके वाच्य वाचक सम्बन्ध को भूलकर मानों इस भेद के झन्झट से शून्य सा हो जावे। इस अवस्था का नाम " निर्वितर्का समापत्ति " है॥

हम लोग जब गायत्री वा प्रणव का जप करते हैं तो गायत्री के अन्तर्गत शब्द कलाप को बोलते हैं फिर उस २ शब्द के अर्थ पर चित्त लगाते हैं और फिर जानते हैं कि इस २ शब्द का यह २ अर्थ है. सो जब तक यह शब्द और अर्थ और इन दोनों के वाच्यवाचक रूप परस्पर सम्बन्ध की मिलावट रहती है तब तक सवितर्का समापत्ति जानो और जब केवल अर्थ के ही स्वरूप का धारण करके चित्त अपने आप से मानो शून्यसा हो जावे और उसे इस शब्द का यह अर्थ है, ऐसी स्मृति भी न रहे, साफ़ हो जावे तब वह अवस्था " निर्वितर्का समापत्ति " कहाती है॥

१ सवितर्का, २ निर्वितर्का कह चुके, अब ३ सविचारा और चौथा निर्विचारा का कथन करते हैं:—

४४–एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

इसी ही से सूक्ष्म विषयवाली सविचारा और निर्विचारा भी व्याख्यात जानो॥

अर्थात् स्थूल विषय पर चित्त लगना और शब्द अर्थ ज्ञानके विकल्पोंसे मिश्रित रहना जैसे सवितर्का कही गई वैसे ही किसी सूक्ष्म विषय पर चित्त का संयम करना और उस सूक्ष्मविषय के वाचक शब्द और वाच्य अर्थ तथा उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान करना " सविचारा " समापत्ति कहाती है। इसी प्रकार जैसे शब्द अर्थ ज्ञान से आगे बढ़ कर चित्त का केवल स्थूल विषय मात्र का स्वरूप बन जाना " निर्वितर्का " समापत्ति कही थी, वही निर्वितर्का जब स्थूल विषय से आगे बढ़कर सूक्ष्म विषयक होती है तब " निर्विचारा " समापत्ति कहाती है॥

४२। ४३। ४४ तीनों सूत्रों में चारों समापत्तियों का वर्णन यह हुआ कि चित्त का किसी स्थूल गौ, घट, पठ आदि विषय में संयम होना पर उस २ गौ आदि ग्राह्य पदार्थ के शब्द अर्थ ज्ञान के सम्बन्धों की तर्कना बनी रहना—१ " सवितर्का "। और इसी प्रकार काल दिशा आकाश वा पञ्च महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्रा इत्यादि किसी सूक्ष्म विषय में चित्त का संयम करके उस २ काल आदि के शब्द अर्थ ज्ञान के सम्बन्धों की तर्कना रहते हुवे चित्त का तद्रूप बनना, २–" सविचारा " समापत्ति जानों। और इन्हीं सवितर्का और सविचारा में जब शब्द अर्थ और ज्ञान की तर्कना छूटकर केवल स्थूल विषय मात्र का स्वरूप धारण करके चित्त तद्रूप बन जावे तब ३–" निर्वितर्का " और सूक्ष्म विषय पर ऐसे ही अर्थमात्र के तद्रूप हो जाना ४–" निर्विचारा " समापत्ति कहाती है॥

इस ४४ वें सूत्र में सूक्ष्मविषया कहने से जब सूक्ष्म विषया समापत्तियों को सविचारा निर्विचारा कहा तब ४२। ४३ सूत्रोक्त सवितर्का निर्वितर्का का स्थूल विषया समझना अर्थापत्ति वा परिशेष से वा उत्सर्ग से समझो ॥

४५–सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

और सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्ग (ग्राह्य) तक है।

४४ वें सूत्र में जो सूक्ष्मविषया समापत्ति के सविचारा निर्विचारा दो भेद कहे हैं सो सूक्ष्मता की अवधि नियत करने को यह सूत्र कहता है कि काल आकाशादि और तन्मात्रादि से लेकर अलिङ्ग प्रकृति तक सूक्ष्म विषय की ४४ वें सूत्र में विवक्षा है ॥

४६–ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

वे (४ समापत्तियें) ही (मिल कर) स बीज समाधि (कहाती है) ॥

१–सवितर्का, २–निर्वितर्का, ३–सविचारा और ४–निर्विचारा समापत्तियों को ही सबीज वा संप्रज्ञात योग कहते हैं ॥

इन चारों में से अन्तिम निर्विचारा का उत्तम फल बताते हैं कि:—

४७–निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार (समाधि) के नैर्मल्य में अध्यात्म (बुद्धि सत्व) प्रसन्न होजाता है ॥

निर्विचार समाधि का नैर्मल्य यह है कि रजोगुण तमोगुणों के मल से रहित प्रकाशरूप बुद्धि सत्व की प्रकृति (प्रधान) पर्यन्त सूक्ष्मग्राह्य विषय का जिसमें प्रत्यक्ष हो जाता है और रजोगुण तमोगुणों से तिरोहित नहीं होती, जो सात्विक होने से निरो निर्मल है, ऐसी स्थिरता हो जाना। इस दशा में सात्विक बुद्धि प्रसन्न निर्मल स्वच्छ निर्विकार हो जाती है और उस बुद्धि को योगी लोग:—

४८–ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

(कहते हैं कि) इसमें प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतंभरा (संज्ञा से कही जाती है) ॥

ऋतंभरा का अर्थ यह है कि ऋत = सत्य - विकल्प रहित यथार्थ पदार्थ को जो बुद्धि विषयता से धारण करती है अर्थात् तब निर्भ्रम बुद्धि हो जाती है ॥

४९–श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

(यह ऋतंभरा प्रज्ञा) विशेषविषयिणी होने से श्रुत = शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न विषया है ॥

शास्त्र और अनुमान से भी पदार्थ का ज्ञान होता है परन्तु साक्षात्कार नहीं होता, पर हां, इस ऋतंभरा प्रज्ञा से साक्षात्कार होता है, इसलिये शास्त्र अनुमान

तौ सामान्य ज्ञान कराने वाले हैं और ऋतंभरा प्रज्ञा विशेष ज्ञान कराती है। इस लिये यह श्रुत और अनुमान से अन्य विषया है॥

५०—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

इस (ऋतंभरा प्रज्ञा) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों का हटाने वाला है।

यद्यपि शब्दादि विषय भोग वासना रूप अनादि शत्रु, अयोगियों के संस्कार बड़े प्रबल हैं, परन्तु यह ऋतंभरा प्रज्ञा जब अपना संस्कार उत्पन्न करती है तौ अन्य संस्कारों के दूर भगाती है॥

५१—तस्यापि निरोध सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

उस (ऋतंभरोत्पन्न संस्कार) के भी रोकने पर सब के रुक जाने से निर्बीज (असंप्रज्ञात) योग सिद्ध हो जाता है॥

ऋतंभरा प्रज्ञा के संस्कार अन्य संस्कारों के परम वैराग्य बल से जब रोकते हैं तौ होते २ उसी परम वैराग्य से ऋतम्भरोत्पन्न संस्कार भी रुक जाता है। और तब निर्बीज समाधि अर्थात् जिस में सारे संस्कार रुक जावें और चित्त अपनी प्रकृति (स्वरूप) में लीन हो जावे तब यह आत्मा चित्त और उसके विषय और उसके संस्कारों से छुटकारा पाकर केवल अपने स्वस्वरूप से स्थिर रह जाता है। उस समय चित्त और उसके साथियों से छुटकारा पाया आत्मा परमात्मा का अनुभव करता हुआ परमानन्द का भागी हो जाता है। यही योग का फल है॥

इस प्रकार इस शास्त्र में अधिकृत योग का लक्षण, चित्तवृत्तिनिरोध पदों का व्याख्यान, अभ्यास और वैराग्य इन दोनों उपायों का स्वरूप और भेद, संप्रज्ञात असंप्रज्ञात भेद से योग के दो गौण मुख्य स्वरूप, योगाभ्यास प्रदर्शन पूर्वक उसके उपायों का सविस्तार वर्णन संक्षिप्तोपाय में ईश्वर प्रणिधान द्वारा योग फल चित्त के विक्षेपों और उनके सहभू (साथियों) गण का वर्णन, उससे बचने के एक तत्व का अभ्यास मैत्री करुणादि सम्पादन, संप्रज्ञात असंप्रज्ञात योग की पूर्वाङ्ग विषयवती प्रवृत्ति, ४—समापत्तियें, उनके लक्षण और विषय, और सबीज निर्बीज समाधि का वर्णन करके योग शास्त्र के इस प्रथम समाधि पाद की समाप्ति की गई॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृत योगदर्शन भाषानुवादे

प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

ओ३म्

अथ साधनपादः ॥ २ ॥

इस पाद का आरम्भ इसलिये किया जाता है कि उत्तम वा मध्यम कोटि के योग सीखने वालों को तो प्रथम पाद में कहा योग का वर्णन पर्याप्त है परन्तु जो लोग मन्द कोटि के अधिकारी हैं, जिनका चित्त अतिचञ्चल और क्षुब्ध तथा रागयुक्त है, उनके लिये विस्तार से उपायों (साधनों) का वर्णन अपेक्षित है। सो इस पाद का नाम ही " साधन पाद " रख कर दयालु पतञ्जलि मुनि सविस्तर योग के साधन बताते हैं, जिनसे चित्त शुद्ध हो और अभ्यास तथा वैराग्य प्राप्त हो जिन से चित्त स्थिर होकर योग का फल पाने योग्य हो। पहिले पहल ध्यान योग के सहायक क्रिया योग का वर्णन करते हैं अर्थात् जिन क्रियाओं के करने से पुरुष ध्यान योग के योग्य बन सकता है. उन क्रियाओं को क्रिया योग कहते हैं और वे ३ काम हैं। यथा—

५२—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

१–तप, २–स्वाध्याय, और ३–ईश्वरप्रणिधान क्रिया योग है ॥

१–शीतोष्णादि सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन और हितकारक नपा तुला भोजन इसी प्रकार शास्त्रानुसार प्रातरुत्थानादि क्रियाकलाप का अनुष्ठान करना " तप " २–ओंकार, व्याहृति, गायत्री आदि पावन पाठों का जप वेद उपनिषद् आदि में के शान्ति दायक उपदेशों का पाठ करना " स्वाध्याय " और ३–सर्व उत्तम ईश्वराज्ञा वेद विहित कर्मों को करना और ईश्वर को सर्व कर्मों का साक्षी और धरोहर रखने वाला जानते हुवे उसी के अर्पण करना, उसका सच्चा और पक्का भरोसा रखना फल पाने की इच्छा त्यागे रहना, इत्यादि प्रकार ईश्वरपरायण होना " ईश्वरप्रणिधान " है। तीनों मिल कर " क्रिया योग " कहाते हैं अर्थात् योग सीखने वाले को ये क्रिया करनी चाहिये ॥

यद्यपि यम नियमादि आगे कहे जाने वाले सभी साधन, साधन हैं पर सूक्ष्म विचार से देखा जावे तो वे इस क्रिया योग के अन्तगत हैं। स्पष्ट करने के लिये फैला कर कहते हुवे यम नियमादि अङ्गों का व्याख्यान आगे २६ वें सूत्र से आरम्भ करके इसी पाद में कहा जायगा ॥

अब इन ३ क्रिया योगों का प्रयोजन अगले सूत्र में निर्दिष्ट करते हैं:—

५३—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

(वह क्रियायोग) समाधि के उत्पादनार्थ और क्लेशों के घटाने के लिये है ॥

प्रथमपादोक्त समाधि को चित्त शुद्धि द्वारा उत्पन्न करने के लिये और पुरुष-ख्याति (केवल अपने स्वरूप का भोग) के विरोधी अविद्या आदि क्लेशों के घटाने न्यून करने शिथिल करने वा पुरुषख्याति के विघ्न करने में क्लेशों को असमर्थ करने के लिये तप आदि क्रिया योग है ॥

अब क्लेशों की गणना करते हैं :—

५४—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

१—अविद्या २-अस्मिता ३—राग ४-द्वेष और ५—अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं ॥

२—अविद्या आदि ५ क्लेश हैं, जिनके घटाने के लिये सूत्र संख्या ५ में क्रिया योग की आवश्यकता बतलाई गई है। इन पांचों के लक्षण आगे सूत्र (५६) से (६०) तक करेंगे ॥

इस सूत्र में अन्य सब पुस्तकों में तो जो हमारे पास हैं ठीक यही पाठ है, परन्तु केवल योग सूत्र वैदिक वृत्ति मुम्बई की छपी में " पञ्च " शब्द नहीं है ॥

अब इन पांचों क्लेशों में प्रथम संख्या की अविद्या की प्रधानता कहते हैं कि:—

५५—अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार रूप अगले (अस्मितादि ४) क्लेशों का क्षेत्र अविद्या है ॥

अगले प्रसुप्तादि ४। ४ भेद के सब क्लेशों का क्षेत्र (भूमि) अविद्या है। जैसे खेत में अन्न उपजते हैं वैसे अविद्या में अस्मिता आदि उपजते हैं खेत न हो तो जैसे अन्न उत्पन्न नहीं होसकते, वैसे ही अविद्या न हो तो अस्मितादि क्लेश भी उत्पन्न नहीं हो सकते। क्लेशों की १ अवस्था "प्रसुप्तता " है जिस में क्लेश मानों सोये रहते हैं। २—अवस्था " तनुता " है, जिसमें क्रिया योग के बल से क्लेश छोटे = तनु = सूक्ष्म रहते हैं। ३—" विच्छिन्नता " जिसमें किसी सजातीय वा विजातीय अन्य क्लेश से दबा रहे और ४ " उदारता " जिसमें क्लेश पूर्ण रूप से काम में आ रहे हों। ये सब के सब अविद्या भूमि विना नहीं रह सकते। इन चार अवस्था वाले क्लेशों में से विदेह प्रकृतिलयों को (देखो १९ वां पूर्व सूत्र) प्रसुप्त क्रिया योगियों को तनु और विषयों को विच्छिन्न और उदार अवस्था वाले क्लेश रहते हैं ॥

अब प्रथम अविद्या का लक्षण करते हैं:—

५६—अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख अनात्मा में आत्मा पना समझना अविद्या है ॥

उलटे ज्ञान अर्थात् अन्य में अन्य बुद्धि को अविद्या कहते हैं जिसके ४ भाग हैं १-अनित्य जगत् आदि को नित्य जानना। २-मलमूत्रादि के भण्डार देहादि को शुचि मानना। ३-विषय भोगादि परिणाम दुःखों को सुख समझ कर उन में फंसना और चौथा अनात्मा बुद्धि आदि स्त्री पुत्रादि को आत्मा समझना। इसी प्रकार पाप को पुण्य, अनर्थ को अर्थ इत्यादि जानना भी अविद्या ही है। अब दूसरे क्लेश 'अस्मिता' का लक्षण करते हैं :—

५७-दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

द्रष्टा और दर्शन की शक्ति को एक सा मानना "अस्मिता" है॥

देखने वाला आत्मा और देखने का साधन बुद्धि वा अन्तः करण मात्र को एक मान लेना अस्मिता है। अविद्या (अनात्मा को आत्मा मानने) और अस्मिता में भेद इतना ही है कि केवल आत्मा को अनात्मा वा अनात्मा को आत्मा मानना अविद्या और सुख दुःखादि विविष्ट अन्तःकरणादि को यह मानना कि मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मोटा, मैं दुर्बल, मैं कृश् हूं इत्यादि अस्मिता है॥

अब तीसरे क्लेश = राग का लक्षण करते हैं :—

५८-सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख अनुभव करने के पिछलगू अभिलाष को राग कहते हैं॥

सुख अर्थात् सुख भोगने के अनु = पश्चात् जो इच्छा सुख भोगने वाले में छाय जाती है और जो फिर सुखदायक पदार्थ की अप्राप्ति में सन्ताप होता है वह राग नाम का तीसरा क्लेश है। इसी प्रकार उसके विरुद्ध चौथे ४-क्लेश = द्वेष का लक्षण करते हैं कि—

५९-दुःखानुशयो द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःख भोगने पश्चात् जो भाव (भोक्ता में) छाये रहता है द्वेष कहाता है॥
राग से प्रीति और द्वेष से क्रोध लक्षित होते हैं॥
अब पांचवे क्लेश अभिनिवेश का लक्षण करते हैं कि :—

६०-स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(पूर्व जन्म में मरने के दुःख को स्वरस कहते हैं) स्वरस के साथ बहने वाले विद्वान् को भी (मूर्ख के) समान चढ़ा हुवा (क्लेश) अभिनिवेश है॥

जिस प्रकार एक मूर्ख मनुष्य वा पशु पक्षी आदि मरण दुःख से भागता है इसी प्रकार एक पढ़ा लिखा विद्वान् भी पूर्व जन्म में मर कर उसके दुःख को पुनः इस जन्म में नहीं चाहता और कहता है कि "अब न मरूं" यह चित्तवृत्ति विशेष अभिनिवेश कहाता है॥

इन्हीं अविद्यादि पांचों क्लेशों के दूसरे नाम ये हैं, जो अन्यत्र इस प्रकार गिनाये हैं कि :—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोह्यन्धसंज्ञकः ।
अविद्यापञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्त्तिता ।

१-तामस् २-मोह, ३-महामोह, ४-तामिस्र और ५ अन्ध, यह ५ पर्वों की अविद्या सांख्य और योगों में कही है ॥

अब क्लेशों के त्याग का उपाय कहते हैं :—

६१-ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे अपने कारण में लय से हटाने चाहियें (जब कि) सूक्ष्म हों ॥

प्रथम उन क्लेशों को क्रिया योग से सूक्ष्म (हलका) करना चाहिये और फिर जहां से जो क्लेश उत्पन्न होता है उसको वहां का वहीं रोक देना इस प्रकार सूक्ष्म क्लेशों का हान (बचाव) हो सकता है ॥ और—

६२-ध्यानहेयास्तद् वृत्तयः ॥ ११ ॥

उन (क्लेशों) की वृत्तियें ध्यान से हटानी चाहियें ॥

उन क्लेशों की जो सुख दुःख मोहादि स्थूल वृत्तियां हैं, उनको चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान से हटा सकते हैं ॥

अब यह कहते हैं कि इन क्लेशों को क्यों हटाना चाहियें ?

६३-क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

(क्यों कि) वर्त्तमान और भावी जन्मों में पाने योग्य कर्म फलों का मूल क्लेश ही हैं ॥

वर्त्तमान जन्म को दृष्ट और आगे होने वाले को बिना देखा वा अदृष्ट कहते हैं, इन जन्मों में मिलने वाले कर्माशय = शुभाऽशुभ कर्मों से उत्पन्न पुण्यों वा पापों का मूल क्लेश हैं। अविद्यादि क्लेश न हों तो इस लोक वा परलोक में भोग्य कर्माशय भी न हों, जो मूल मुमुक्षु वा योगी को हटाना है ॥ क्योंकि :—

६४-सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूल के रहते हुवे उनका फल = १ जाति २ आयु और ३ भोग होते हैं ॥

मनुष्य पशु पक्षी आदि जाति नियतकाल तक जीवन और सुख दुःखादि भोग रूप कर्म विपाक तब ही तक हैं जब तक उनके मूल क्लेश हैं, जब अविद्यादि क्लेश जो मूल हैं न रहें तो " छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखाः " जड़ कट जाने पर न पत्ते रहें, न टहनी; इस कहावत के अनुसार न जाति रहे, न आयु रहे और न भोग रहें ॥

अब यह कहते हैं कि जाति आयु और भोग में क्या बुराई है ? जिससे वे बुरे बताये जाते हैं :—

६५—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्याऽपुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

वे (जाति, आयु और भोग) पुण्य और पाप हेतु होने से हर्ष शोक रूप फल वाले हैं ॥

क्यों जी ! पाप हेतु शोक वा दुःख फल तो बचने (त्यागने) योग्य हैं परन्तु पुण्य हेतु सुख फल वा हर्ष फल में क्या बुराई है ? जिस से वह भी हेय है ? उत्तर—

६६—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

विवेकी को तो परिणाम दुःख ताप दुःख और संस्कार दुःखसे तथा गुणवृत्तियों के (परस्पर) विरोध से सब दुःख ही है ॥

विवेकी जो सुख और दुःखको विचार दृष्टिसे देखता है उसको दुःख तो दुःख हैं ही पर जो अन्य अविवेकियों को सुख जान पड़ते हैं, वे भी उसको दुःख ही जान पड़ते हैं। जैसे—मकड़ी का नर्म = कोमल जाला छूने में हाथ को कैसा सुखस्पर्श मुलायम अच्छा जान पड़ता है, पर वही कोमल जाला आंख में गिर जावे तो आंख को कभी दाल रोटी मिल जावे तो बड़ी स्वाद जान पड़ती है चाहे कितनी ही मोटी हो परन्तु नित्य बारीक रोटी (फुलके) खाने वाले के हलक़ में वे भी प्रायः चुभते हैं। वैसे ही योगी जो अन्य साधारणों से अत्यन्त सुकुमार (नाज़ुक) हो जाता है वे भोग जो अन्य गवांरों को सुख जान पड़ते हैं उस सुकुमार योगी को दुःख ही जान पड़ते हैं क्योंकि उन सुखों में भी एक तो परिणाम दुःख है; क्योंकि जितने पदार्थ संसार में सुखदायक हैं, सब परिणामी हैं, जो वर्तमान क्षण से अगले क्षण में वैसे न रहेंगे। कल्पना कीजिये कि हमको निर्मल वस्त्र पहरने में सुख होता है, परन्तु वस्त्र हर एक क्षण में कुछ मैला होता जाता है क्योंकि वस्त्र की निर्मलता परिणामिनी (बदलने वाली) है। किसी एक सुरूपा युवति स्त्री के दर्शन स्पर्शन में सुख जान पड़ता है, परन्तु वृद्धा के में नहीं। पर युवाऽवस्था भी परिणामिनी है, जो क्षण २ में बुढ़ापे से बदलती है, बुढ़ापा दुःख है तो इस बुढ़ापे के परिणाम को जानने वाला कब युवावस्था में सुख मानेगा। यहां अन्य सब पुण्यार्जित सुख भोगों को दुर्दशा है, इसलिये विवेकी पुरुष इसे दुःख ही समझता है ॥

दूसरा ताप दुःख, जो प्रत्येक सांसारिक सुख में मिला रहता है। क्योंकि सुख भोगते समय मनुष्य चाहता है कि यह मेरा सुख कभी भी विच्छिन्न (अलग) न हो, ऐसा सोच कर उस सुख के बाधक साधनों से द्वेष करता है द्वेष से चित्त को संताप होता है, सन्ताप स्वयं दुःखरूप है। इसलिये ताप दुःख के लगे रहने से भी विवेकी को सब दुःख ही जान पड़ता है ॥

तीसरा सँस्कार दुःख, क्योंकि सुख भोगने से सुख का संस्कार रहता है। संस्कार से उसकी याद, याद से उस में राग, (फंसना) राग से मन वचन देह की प्रवृत्ति, उस से कर्माशय और उस से दुःख का अनुभव, उस से फिर संस्कार, फिर याद, फिर राग, फिर प्रवृत्ति, फिर कर्माशय, और फिर दुःख। इस प्रकार संस्कार चक्र के लौट पौट से विवेकी को सब दुःख ही प्रतीत होता है॥

इन परिणाम, ताप और सँस्कार दुःखों के अतिरिक्त गुणों की वृत्तियों के परस्पर विरोध से भी विवेकी को सब दुःख ही भान होता है। क्योंकि सत्व, रज, तम तीनों गुण एक दूसरे से कुछ विरोध ही रखते हैं और सत्व वा रज वा तम इन में से किसी एक की प्रबलता से जब सुख जान पड़ता है तब भी अन्य विरोधी गुणों की वृत्तियें अपना दबाव डालती रहती हैं तो इस युद्ध (कशमकश) में सुख कहाँ? सत्व गुण शान्ति फैलाता है तो राजस संग्राम अपनी घटा उठाते हैं और तामस मूढ़ता अपना बल उमड़ाती हैं। माना कि गुणों में से किसी को यत्नपूर्वक निर्बल किया जा सके परन्तु तीनों में से किसी एक का भी, जब तक संसार है, सर्वथा नाश सम्भव नहीं। अत एव सब संसार चाहे किसी को कितना ही सुखमय जान पड़े पर विवेकी को निरा दुःखमय अनुभूत होता है। इस लिये क्लेश मूलक कर्माशय को त्यागना इष्ट है॥

अब, जब सब दुःख ही दुःख है तो उस दुःख की तीन अवस्था हो सकती हैं। १-भूत दुःख, २-वर्तमान दुःख, और ३-भावी दुःख। जो दुःख हो चुका उसकी चिन्ता व्यर्थ है; जो वर्तमान है वह अगले क्षणमें न रहेगा, भूत हो जायगा, उसका विचार भी व्यर्थ है परन्तु जो दुःख होने वाला है उसी को रोकना चाहिये। इस लिये आचार्य अगला सूत्र बनाते हैं कि:—

६७—हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

जो दुःख अनागत (अभी नहीं आया पर आने वाला) है, वह हटाना चाहिये॥

६८—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्य का संयोग=हेय का हेतु है॥

द्रष्टा जीवात्मा और दृश्य प्रकृतिजन्य देहादि कार्य, इनका संयोग ही हेय=संसार दुःख का हेतु है॥

अब दृश्य=प्राकृत पदार्थ का स्वरूप वर्णन करते हैं कि:—

६९—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, (पञ्च) भूतस्वरूप और इन्द्रियस्वरूप भोग और मोक्ष प्रयोजन वाला (पदार्थ)=दृश्य है॥

प्रकृति के तीन गुणों में से सत्वगुण का स्वभाव प्रकाश, रजोगुण का स्वभाव क्रिया और तमोगुण का स्वभाव स्थिति (ठहरना = प्रकाश और क्रिया का न होना) है वे गुण पृथिव्यादि भूत रूप और घ्राणादि इन्द्रियरूप में परिणित होते हैं उन में से तमस् और रजस् भोगार्थ हैं और सत्व गुण ज्ञान द्वारा मोक्षार्थ हैं, बस इन तीनों गुणों के कार्य सब पदार्थ दृश्य हैं ॥

यदि कोई कहे कि भोग मोक्ष को दृश्य का अर्थ क्यों कहा ये तो आत्मा को होते हैं ? तो उत्तर यह है कि जैसे योद्धा हारते जीतते हैं पर उनका राजा हारा जीता समझा जाता है क्योंकि वह हार जीत का फल पाने वाला है ऐसे ही बुद्धि के भोग और मोक्ष भी आत्मा के भोग मोक्ष कहाते हैं क्योंकि आत्मा बुद्धि कृत भोग मोक्षों का भोक्ता है। पर जैसे स्वतन्त्र राजा परतन्त्र योद्धाओं को लड़ाता है, इसलिये आप हार जीत का फल पाता है, ऐसे ही स्वतन्त्र आत्मा परतन्त्र बुद्धि आदि से प्रवर्तमान होता है, इस बुद्धिकृत बन्ध (भोग) व मोक्ष का भागी होता है। व्यास (भाष्य) ने भी इस विषय में राजा और योद्धाओं का ही दृष्टान्त दिया है तथा अन्य सबने भी क्योंकि यह दृष्टान्त बड़ा उपयोगी है। अब दृश्य गुणों के स्वरूप भेद भिन्न २ समझाने को अगला सूत्र किया गया है कि :—

७०—विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेषों, अविशेषों, लिङ्गमात्रों और अलिङ्गों को गुणों के पर्व (अवस्था भेद) कहते हैं ॥

आकाशादि पांच ५ स्थूल भूत, श्रोत्रादि ५ ज्ञानेन्द्रिय वाणी आदि ५ कर्मेन्द्रिय और १ मन; ये १६ षोडश विकार = विशेष कहाते हैं। आकाशादि के कारण सूक्ष्म-भूत (तन्मात्रा) अपने २ से परले २ के लक्षण मिल कर १ । २ । ३ । ४ और ५ पांच लक्षणों वाले शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध, ये पांच और छटा अहङ्कार; ये छः ६ अविशेष कहाते हैं। तन्मात्राओं और अहङ्कार के कारण महत्तत्व को लिङ्ग, मात्र कहते हैं और महत्तत्व के भी कारण भूत प्रधान = प्रकृति को अलिङ्ग कहते हैं। ये चारों गुणपर्व कहाते हैं ॥

इन में से सत्वादि ३ गुणों की साम्याऽवस्था को अलिङ्ग और विषमाऽवस्था को विशेष अविशेष और लिङ्ग मात्र जानिये ॥

यह सांख्य और योग का प्रक्रिया भेद मात्र है कि सांख्य तो ५ तन्मात्रों को अहङ्कार का कार्य लिखता है और योग इन ५ को अहङ्कार का भाई और महत्तत्व की सन्तान (कार्य) बताता है ॥

अब अवस्था भेद के वर्णन पूर्वक दृश्य का स्वरूप बता कर अगले सूत्र से द्रष्टा का स्वरूप बताते हैं कि :—

७१—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा ज्ञानस्वरूप है और शुद्ध भी (बुद्धिकृत) प्रत्ययों के अनुसार देखने जानने वाला है ॥

द्रष्टा आत्मा ज्ञान (दृशि) मात्र है और ज्ञानस्वरूप है। मात्र कहने से यह अभिप्राय है कि आत्मा और ज्ञान में धर्म धार्मिक सम्बन्ध अर्थात् ज्ञान और ज्ञानवान् रूप सम्बन्ध भी विवक्षित नहीं है, किन्तु ज्ञान मात्र वा ज्ञान स्वरूप कहना इष्ट है। प्रश्न-केवल ज्ञान मात्र को द्रष्टा कैसे कह सकते हैं? ज्ञानी के लिये ज्ञानसाधन द्रष्टा के लिये दृष्टिसाधन की भी तो अपेक्षा है? उत्तर-वह शुद्ध भी है और उसमें साधनादि सम्मिलित न हों पर वह अपने सानिध्यमात्र से बुद्धि को हुई प्रतीतियों के साथ २ देखने (जानने) वाला है ॥

अब द्रष्टा और दृश्य का वर्णन करके इनका परस्पर सम्बन्ध बताते हैं कि:—

७२-तदर्थ एव च दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

दृश्य का आत्मा (स्वरूप) केवल द्रष्टा के ही लिये है ॥

प्रकृतिजन्य कार्य अपने लिये नहीं किन्तु द्रष्टा=पुरुष के लिये ही भोग तथा मोक्षार्थ है यही इनका सम्बन्ध है ॥

यदि कहो कि कृतार्थ (कामयाब) के लिये तो दृश्य (प्रकृति) नष्ट (व्यर्थ) है क्योंकि उसने विवेक से उसे आत्मा से पृथक् जान त्याग दिया, तो उत्तर यह है कि:-

७३-कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थ के प्रति नष्ट भी (दृश्य), अन्यों के प्रति सामान्य से अनिष्ट है।

पूर्व सूत्र में गुणत्रयात्मिका प्रकृति को पुरुष (द्रष्टा) के लिये होना कहा था उसमें यह शङ्का हुई कि तो जो पुरुष कृतार्थ (कामयाब) होकर मोक्ष पा गया उसके प्रति प्रकृति नष्ट (व्यर्थ) है। इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं बस एक की मुक्ति में शेषों के लिये प्रकृति सार्थक होने से नष्ट नहीं (अनष्ट ही रही) हो सकती क्योंकि जब एक पुरुष के भोग मोक्ष दोनों कार्य प्रकृति से निकल चुके तब अन्य अनेकों के साथ प्रकृति वही साधारणता रखती है और उनके भोग के लिये सार्थक रहती है। यूं फिर कर प्रकृति कभी (नष्ट) निरर्थक नहीं होती। इस लिये कभी संसार का उच्छेद (समूलनाश) नहीं होता ॥

नष्ट का अर्थ व्यर्थ इस लिये किया गया है कि वास्तविक नाश वा अभाव असंभव है क्योंकि प्रकृति कालापेक्ष अनादि अनन्त तीन पदार्थों (जीव ब्रह्म प्रकृति) में से एक है।

द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप बता कर अब संयोग का वर्णन करते हैं कि:—

७४-स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व (मिल्कियत) और स्वामी (मालिक) की शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु सँयोग है ॥

यहां स्व शब्द से प्रकृति और स्वामी शब्द से पुरुष का ग्रहण है। स्व और स्वामी अर्थात प्रकृति और पुरुष की शक्तियें संयोग से उपलब्ध होती हैं। यदि इन प्रकृति और पुरुष का संयोग न हो तो दोनों की शक्तियें उपलब्ध नहीं हो सकतीं ॥

अब यह बता चुके कि पुरुष को प्रकृति के संयोग से बन्ध है, अब जानना चाहिये कि पुरुष द्रष्टा जब चेतन है तो वह जान बूझ कर प्राकृत बन्धन में क्यों पड़ा ? इसका कारण बताने को अगला सूत्र है कि:—

७५—तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

उस संयोग का हेतु अविद्या है।

अविद्या अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भ्रान्ति ज्ञान, अविवेक (उलटा) ज्ञान इत्यादि पद वाच्य अविद्या से द्रष्टा दृश्य में फंसा पड़ा है।

बस अब मूल कारण बन्ध का जान पड़ा इसलिये अविद्या ही हटाने योग्य है। इसलिये अगले सूत्र में हान का वर्णन करते हैं और बताते हैं कि अविद्या के न रहने से कैसे कैवल्य = मोक्ष हो सकता है। यथा:—

७६—तदऽभावात्संयोगाऽभावोहानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उस (अविद्या) के अभाव से संयोग का अभाव = हान है और वही द्रष्टा = पुरुष का मोक्ष है।

अविद्या न रहे तो प्रकृति पुरुष का संयोग न रहे और सँयोग न रहे तो फिर देहादि प्राकृत पदार्थ मात्र न रहने से कैवल्य = केवल आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि = मोक्ष हो जावे ॥

अब यह कहते हैं कि इस अविद्या के हान = हटाने का उपाय क्या है ?

७७—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

विच्छेद रहित विवेकख्याति हान का उपाय है ॥

प्रकृति और पुरुष में वास्तविक भेद को अनुभव करने, रूप विवेक की ख्याति उपाय है, जिस उपाय से आचार्य के उपदेश से विवेक लेकर उसको भले प्रकार व्यवस्थित करके निरन्तर बहुत काल पर्यन्त अभ्यास करते २ जो भावना उत्पन्न होती है उस भावना से पुरुष को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है, वही भावना समाधिप्रज्ञा कहाती है। वह समाधिप्रज्ञा स्वविषयक पर वैराग्य से उस क्लेशादि के प्रतिप्रसव जहां से उत्पन्न हो उसको उसी अपने कारण में लय करने के लिये क्रिया-योगादि द्वारा सूक्ष्म किया हुआ वासना सहित मिथ्या ज्ञान दग्धबीज होजाता है तब यह विवेक ख्याति विच्छेद रहित सच्ची पक्की अटल होजाती है, यही हानका उपाय है॥

उस विवेकख्यातिमान् योगी को फिर क्या फल होता है सो कहते हैं कि:—

७८–तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस (विवेकी) को सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा हो जाती है।

उस दशा में विवेकी योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) सात प्रकार की प्रान्त भूमि = जिन अवस्थाओं को प्रान्त = परला सिरा कहें ऐसी हो जाती हैं। ७ प्रकार ये हैं :—

१–जिज्ञासा का अन्त, सब कुछ जो त्याज्य था जान लिया, अब जानने की इच्छा समाप्त हुई। २–जिज्ञासा का अन्त, अविद्यादि पांचों क्लेश छोड़ दिये, अब कुछ छोड़ना शेष नहीं रहा, यह इच्छा भी अन्त को पहुंची। ३–प्रेप्सा का अन्त। हानको पालिया, अब कुछ पाना शेष न रहने से प्रेप्सा = प्राप्त करने की इच्छा की भी पूर्ति हुई। ४–चिकीर्षा का अन्त। हान का उपाय विवेक कर चुके, अब कुछ करना शेष नहीं, अतः चिकीर्षा भी पूरी हुई। ये ४ तो प्रज्ञा की विमुक्ति (छुटकारा) हुई अब शेष ३ रहीं सो चित्त की विमुक्ति हैं। उनमें पहिली १–मेरा बुद्धिसत्व कृतार्थ होगया, अब इसका अन्त आगया। २–बुद्धिरूप से परिणत (रूप बदले हुवे) गुण भी अपने कारण (प्रकृति) में लय को प्राप्त होगये, जैसे पहाड़ पर से लुढ़के हुवे पत्थर कहीं ठिकाना न पाते हुवे टूटते २ रेत बन जाते हैं इसी प्रकार सत्वादि ३ तीनों गुण भी बुद्धिसत्व सहित लय को प्राप्त हो जाते हैं। ३–अब तो गुणों से अतीत, स्वरूपमात्र से अवस्थित, चेतन्मात्र एक रस केवली, पुरुष (जीवात्मा) परमात्मा से साक्षात् करेगा, अब क्या शेष है ? कुछ नहीं। इस प्रकार चित्तकी विमुक्ति होजाती है। यूं पूर्वोक्त ४ और ये अन्त में कहीं तीन ३ मिल कर सात ७ प्रान्त भूमि हुईं ॥

अब साधनों का वर्णन इसलिये आरम्भ करते हैं कि साध्य की सिद्धि साधन वा साधनों के विना नहीं होती। तथाहि—

७९–योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योग के (८) अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है।

विवेक ख्याति तो अन्त में होगी इस लिये उस से पूर्व योग के यमनियमादि ८ अङ्गों (साधनों) का अनुष्ठान करना चाहिये जिस से अशुद्ध अर्थात् पाप पुण्य सहित ५ पर्वों वाली अविद्या [देखो-सूत्र (५४) से (६४) तक] के नाश = क्षय = तनुत्व होने पर जब तक विवेक उपजे तब तक बराबर ज्ञान का निर्मल प्रकाश बढ़ता रहता है नहीं तो यमनियमादि साधनों के बिना दौड़ने वाले योगी को गिरना पड़ेगा। जैसे २ साधनों का अनुष्ठान (अमल) करते जाओगे वैसे २ अशुद्धि घटती जायगी, जैसे २ अशुद्धि घटती जायगी वैसे २ सम्यक् ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जायगा, यह ज्ञानप्रकाश की वृद्धि विवेक ख्याति होने तक बराबर बढ़ती जायगी। इसलिये अङ्गों से ही योगानुष्ठान ठीक होगा। अब अङ्गों की गणना करते हैं कि:—

८०–यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

१–यम, २–नियम, ३–आसन, ४–प्राणायाम, ५–प्रत्याहार, ६–धारणा, ७–ध्यान, और ८–समाधि; ये आठ अङ्ग (साधन) हैं ॥

यद्यपि प्रथम पाद में बताते हुवे अभ्यास वैराग्य श्रद्धा वीर्यादि भी योग के ही अङ्ग वा साधन थे पर यहां जो ८ अङ्ग गिनाये हैं उन में पूर्वोक्त अभ्यासादि भी अन्तर्गत जानिये। जैसे कि समाधि में अभ्यास, सन्तोष में वैराग्य, तप आदि में श्रद्धादि, धारणादि में मैत्री करुणादि का यथायोग्य अन्तर्भाव समझना चाहिये ॥

अब क्रमानुसार इन ८ में से एक २ का वर्णन करने को प्रथम यम कितने और कौन २ हैं सो बताते हैं:—

८१–अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥३०॥

१–अहिंसा २–सत्य, ३–अस्तेय, ४–ब्रह्मचर्य, और ५–अपरिग्रह ये यम कहाते हैं ॥

१–मन वचन कर्म से सदा सब प्राणियों को पीड़ा न देना = अहिंसा। २–जब बोलना चाहे तब जैसा कुछ देखा सुना और जैसा मन में हो वही कहना = सत्य। ३–सब प्रकार से पराये द्रव्य में लालच न करना = अस्तेय। ४–उपस्थेन्द्रिय का सँयम और वीर्य रक्षा = ब्रह्मचर्य और धनादि के संग्रह में कमाने, रखने, खोये जाने पर पीड़ा, इत्यादि दोष देख कर सदा शरीर यात्रा निर्वाह से अतिरिक्त भोग साधनों को स्वीकार न करना = अपरिग्रह कहाता है ॥

यम शब्द का अर्थ यह है कि " विषयों से उपरत किये जावें मन सहित सब इन्द्रियें जिन से " वे यम ५ कहाते हैं। इस सूत्र के आरम्भ में व्यास भाष्य का " तत्र " किसी २ पुस्तक के मूल में मिला पाया जाता है ॥

उन यमों की विशेषता यह है कि—

८२–जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

(वे यम यदि) जाति, देश, काल और समय से न कटें और सब भूमियों में रहें (तो) महाव्रत हैं ॥

अहिंसादि यम जात्यादि में संकुचित न होकर सर्वत्र रहें तो महाव्रत हैं। जैसे एक अहिंसा तो जाति से संकुचित है कि गो वा ब्राह्मण को नहीं मारूंगा पर जाति से अनवच्छिन्न अहिंसा यह है कि किसी को भी न मारूंगा। ऐसे ही देश से संकुचित अहिंसा यह है कि कुरुक्षेत्रादि तीर्थस्थलों में न मारूंगा, पर देशाऽनवच्छिन्न अहिंसा वह है कि कहीं भी न मारूंगा, तथा एक तो कालाऽवच्छिन्न अहिंसा है कि अमावस्या

पौर्णिमा आदि पर्वों में न मारूंगा पर कालाऽनवच्छिन्न अहिंसा वह है कि कभी भी न मारूंगा। इसी प्रकार एक तो समयाऽवच्छिन्न अहिंसा है कि नियम वा प्रतिज्ञा के विरुद्ध न मारूंगा जैसे कोई प्रतिज्ञा करले कि किसी के कहे विना अपने आप न मारूंगा पर किसी के कहने से वा किसी के अनुरोध (खातिर) से मारूंगा, पर समयाऽवच्छिन्न अहिंसा वह है कि किसी प्रकार नियम अनियम आदि किसी भी प्रकार न मारूंगा। सो ऐसी अहिंसा जो सब जातियों, सब देशों, सब कालों और सब नियमाऽनियमादि में टूटने ही न पावे, सार्वभौम महाव्रत हुई। इसी प्रकार जो सत्य सब जाति, देश, काल और नियमों में बंधा न हो, जैसे हम तो ऐसे सत्यवादी हैं कि हम गुरु से वा ब्राह्मण से वा राजा से झूंठ नहीं बोलते, वा कुरुक्षेत्रादि देश विशेष में झूंठ नहीं बोलते, वा पूर्णिमा आदि पर्वों में झूंठ नहीं बोलते, वा अमुक २ कामों में झूंठ नहीं बोलते सो ऐसे सत्यवादी महाव्रती नहीं हैं किन्तु जो किसी जाति से, किसी देश में, किसी समय में और किसी नियम से भी झूंठ बोलते ही नहीं, वे महाव्रती हैं। ऐसे ही अस्तेय = चोरी न करने में जो लोग जाति, देश, काल और प्रतिज्ञा का बन्धन रखते हैं कि ब्राह्मण का नहीं चुरावेंगे, वा पाठशाला में वा गुरुकुल में चोरी नहीं करेंगे, वा पर्व वा उत्सव में नहीं चुरावेंगे वा सोना नहीं चुरावेंगे वा अन्य अमुक नियम के विरुद्ध नहीं चुरावेंगे इत्यादि प्रकार के चोरी त्यागी पुरुष महाव्रती नहीं, किन्तु जो किसी का भी, कहीं भी, किसी समय में भी और किसी नियम से भी नहीं चुराते वेही महाव्रती हुवे। ऐसे ही ब्रह्मचर्य में भी कोई लोग जाति आदि का बन्धन रखते हैं कि गुरु पत्नी आदि किसी विशेष स्त्री से गमन न करेंगे, हृषीकेशादि किसी तपोभूमि में मैथुन न करेंगे वा अमावास्यादि यज्ञ के पर्व दिनों में न करेंगे वा दिन में न करेंगे इत्यादि किसी नियम वा प्रतिज्ञा से मैथुन का त्याग करते हैं वे महाव्रती नहीं किन्तु पूर्ण महाव्रती ब्रह्मचारी वे हैं जो किसी भी स्त्री से, किसी भी देश में, किसी भी समय में, किसी भी नियम में मैथुन नहीं करते। यही दशा अपरिग्रह की है। कोई तो कहते हैं कि महाशय ! हम (कसाई) वधिक का पैसा नहीं कमाते हम तो हरिद्वार में माया जोड़ने का विचार नहीं करते, हम तो रविवारको दूकान बन्द रखते हैं, हमतो सवा रुपये सैंकड़ेसे अधिक ब्याज नहीं लेते इत्यादि नियम से परिग्रह का त्याग रखते हैं सो ऐसे लोग महाव्रती नहीं किन्तु जो जाति, देश, काल, प्रतिज्ञा नियमादि से बिना बंधा अपरिग्रह रखते हैं वे ही महाव्रत वाले हैं॥

अब दूसरे योगाङ्ग २-नियमों का वर्णन करते हैं :—

८३-शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२॥

१-शौच, २-सन्तोष, ३-तपः, ४-स्वाध्याय और ५-ईश्वर प्रणिधान, ये (५) नियम हैं॥

१-जल मृतिका, साबुन आदि से बाहर की शुद्धि। पवित्र आहार बिहारादि से उदर का शुद्ध रखना इत्यादि बाह्य शौच है। मैत्री, करुणादि द्वारा चित्त मलों (राग-द्वेषादि) का धोना आभ्यन्तर शौच है। २-साधारण समीपी साधन से अधिक दूर२ के लम्बे चौड़े उपायों द्वारा जीविकादि की इच्छा न करना सन्तोष है। ३-शीतोष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन और हितकर नपा तुला भोजनादि व्यवहार करना तप है। ४-ओंकारादि का जप, मोक्ष शास्त्र, वेद, उपनिषदादिका अध्ययन स्वाध्याय है और ८-सर्व कर्मों का परम गुरु परमात्मा में समर्पण और फल की इच्छा न करना ईश्वर प्रणिधान है। ये ५ नियम कहाते हैं। नियम का अर्थ यह है कि जो अवश्य कर्त्तव्यता से विधान किये जावें॥

८४-वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कों के हटाने में विरोध की भावना करनी चाहिये॥

अहिंसादि महाव्रत के अनुष्ठान करते हुवे जब कभी कोई वितर्क (अहिंसादि के विरुद्ध तर्क) उठे कि " १-इस ने मुझे सताया है इसे अवश्य मारूंगा वा २-इसने जो मुझे ठगा है इससे तौ झूंठ बोल कर ही पार पाऊंगा वा ३-इस दुष्ट का धन तौ छीनूं वा चुरा ही लूंगा वा ४-इस रूपवती से तौ मैथुन करके ही छोड़ूंगा वा ५-लक्ष रुपये तौ कमा कर ही मानूंगा वा हाथी की सवारी तौ एक बार अवश्य लूंगा इत्यादि प्रकार यमों में जब वितर्क उठे कि १-अब तौ जाड़ा पड़ता है कौन न्हावे, इस दुष्ट से मैत्री करना तौ जञ्जाल बांधना है वा २—१००) सौ रुपये हो जायेंगे तब आगे सन्तोष करलेंगे वा ३-गर्मीसे छत्री लगाये लेते हैं जब कम धूप पड़ेगी तब सहलेंगे, वा ४-अब तौ जप में जी नहीं लगता फिर जपेंगे वा ५-ईश्वर किसी ने देखा है ? जिसका भरोसा किया जावे। इत्यादि प्रकार नियमों में वितर्क उठे तौ प्रतिपक्ष (विरोध) की भावना करे कि अहो ! जो हिंसादि मैंने त्याग दिये, क्या मैं कुत्ता हूं जो थूके हुवे को फिर चाट जाऊं। जिस ईश्वर पर मैंने सब कुछ वार दिया, क्या मैं लुब्धक वा आलसी वा प्रमादी हूं जो उसे भूल जाऊं, इत्यादि प्रकार उन वितर्कों के विरुद्ध पूरा बल लगाना (ज़ोर मारना) चाहिये, तब ये वितर्क हार जायेंगे और तुम्हारी (योगी) की जीत होगी॥

क्यों जी ! वे वितर्क किस स्वरूप के और किस प्रकार के हैं ? किस कारण से हैं ? किस स्वभाव वाले हैं ? उनका क्या फल होगा ? जो रोके न जावें तौ और उनको कैसे रोकें ? इत्यादि के उत्तर में अगला सूत्र कहता है कि:—

८५-वितर्काहिंसादयःकृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोह-पूर्वका मृदुमध्याऽधिमात्रा दुःखाऽज्ञानाऽनन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

हिंसादि वितर्क कृत कारित अनुमोदित (३ प्रकार के हैं, फिर) लोभ, क्रोध, मोह पूर्वक (३ × ३ = ९) प्रकार के हैं (फिर) मृदु, मध्य, अधिमात्र (भेदसे ९ × ३ = २७ और इनके भी ३ भेद करें तौ ८१) भेद वाले हैं, जिनके फल, दुःख और अज्ञान अनन्त हैं इस कारण (इनका) प्रतिपक्ष (विरोध) करना चाहिये ॥

यम नियमों में अहिंसादि के विरुद्ध हिंसादि वितर्क हैं, जैसे १-अहिंसा के विरुद्ध हिंसा २-सत्य के विरुद्ध असत्य, ३-अस्तेय = चोरी त्याग के विरुद्ध चोरी करना, ४-ब्रह्मचर्य के विरुद्ध विषयलम्पटता, और ५-अपरिग्रह के विरुद्ध परिग्रह। इसी प्रकार १-शौच के विरुद्ध अशौच, २-सन्तोष के विरुद्ध असन्तोष, ३-तप के विरुद्ध सुकुमारता (नज़ाकत) ४-स्वाध्याय के विरुद्ध प्रमाद से आलसता और ५-ईश्वर प्रणिधान के विरुद्ध नास्तिकता। ये वितर्क हुए। इन वितर्कों में से प्रथम प्रत्येक हिंसादि वितर्क तीन २-प्रकार का है। १-कृत=जो स्वयं किया जाय २-कारित = जो कह कर दूसरे से कराया जाय, और ३-अनुमोदित = जो स्वेच्छा से किसी का अनुमोदन करना कि अच्छा किया तुमने। जैसे १-हिंसा वह जो स्वयं किसी प्राणी को हिंसा करना २-यह कि किसी से हिंसा कराना, ३-वह कि किसी ने हिंसा की हो तो उनका अनुमोदन करना। इसी प्रकार असत्य में लगा लीजिये कि १-स्वयं असत्य बोलना २-किसी दूसरे से असत्य बुलवाना और ३-किसी के असत्य भाषण का अनुमोदन करना। ऐसे ही चोरी आदि नास्तिकता पर्यन्त सब के तीन २ भेद जानिये। फिर इन में से प्रत्येक के तीन भेद हैं। १-लोभपूर्वक, २-क्रोधपूर्वक, ३-मोहपूर्वक। लोभवश हिंसादि करना, लोभपूर्वक क्रोधवश हिंसादि करना, क्रोधपूर्वक और मोहवश करना मोहपूर्वक कहाता है। इस प्रकार हिंसादि के नौ नौ भेद हुवे। जैसे १-कृत लोभपूर्वक, २-कारित लोभपूर्वक, ३-अनुमोदित लोभ पूर्वक, ४-कृत क्रोधपूर्वक, ५-कारित क्रोधपूर्वक, ६-अनुमोदित क्रोधपूर्वक, ७-कृत मोहपूर्वक, ८-कारित मोहपूर्वक और ९-अनुमोदित मोहपूर्वक। इस प्रकार हिंसादि १०-विकल्पों के ९० भेद हुवे। इन ९ प्रकारों के भी ३ भेद मृदु, मध्य, अधिमात्र नामक हैं। जैसे :—

१-मृदु = हलकी हिंसा कृत लोभ पूर्वक, २-मध्य = मध्यमहिंसा कृत लोभपूर्वक और ३-अधिमात्र = बढ़की हिंसा कृत लोभपूर्वक। इसी प्रकार कारित तीन प्रकार की और अनुमोदित ३ प्रकार की होकर हिंसा ९ × ३ = २७ प्रकार की हुई तौ असत्यादि सब वितर्कों के भेद हिंसाको मिलाकर २७० प्रकार की हुई। व्यास भाष्य में मृदु, मध्य अधिमात्र के भी ३। ३ भेद किये हैं कि १-मृदु मृदु, २-मृदु मध्य, ३-मृदु अधिमात्र, ४-मध्य मृदु, ५-मध्य मध्य ६-मध्य अधिमात्र, ७-अधिमात्र मृदु, ८-अधिमात्र मध्य और ९-अधिमात्र अधिमात्र। इस प्रकार के २७ × ३ = ८१ प्रकार के हिंसादि १० वितर्क ८१ × १० = ८१० प्रकारके होजाते हैं। तथा नियमादि भेदसे असंख्य प्रकार के हैं। योगी को उन सबसे बचना चाहिये इस कारण सबका प्रतिपक्ष = विरोध करे ॥

इस प्रकार हिंसादि १० को वितर्कों का स्वरूप वा प्रकार बताया गया। कृत, कारित, अनुमोदित ये ३ उनके प्रकार बताये गये, लोभ क्रोध मोह उनके कारण बताये गये और दुःख अज्ञान उनके फल बताये गये और मृदु मध्य तथा अधिमात्र उनके स्वभाव बताये गये ॥

अब अहिंसादि प्रत्येक का फल बताने को अगले सूत्र में अहिंसा का फल वा सिद्धि बताते हैं कि :—

८६–अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसा में स्थिति (निश्चलता) होने पर उस (योगी अहिंसक) के समीप (सब प्राणियों का) वैर छूट जाता है ॥

जब योगी पूर्ण अहिंसा में ३४ वें सूत्रोक्त रीति से स्थिर हो जाता है और अहिंसा व्रत जब सिद्ध होजाता है तो उसके समीप कोई प्राणी हिंसा वा वैर नहीं करता। " जो किसी को न सतावेगा, उसे भी कोई न सतावेगा " ॥

८७–सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्य में स्थित होने पर क्रिया और फल का आश्रय हो जाता है ॥

जब योगी को सत्य सिद्ध हो जाता है तब क्रिया (जो कुछ करें) और फल (जो उसका परिणाम हो) इन दोनों का आश्रय उस योगी की वाणी में हो जाता है अर्थात् वह योगी पापी को भी कहदे कि " तू पुण्यात्मा होजा " तौ वह फिर पाप त्याग कर अवश्य धर्मात्मा हो जावे। वह यदि कहदे कि तू सुख (फल) को प्राप्त होजा तौ वह सुखी हो जावे अर्थात तब वाणी को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। " जो असत्य न बोलेगा उसकी वाणी कर्म और फल से रहित क्यों होगी " ॥

८८–अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

३–चोरी के त्याग में स्थिरता होने पर सब रत्न उपस्थित होने लगते हैं।

ठीक है कि जब तक मनुष्य का (भाव = नीयत) ठीक नहीं तब तक कुछ न मिलेगा और जब परपदार्थ में स्पृहा न रक्खेगा तौ फिर सब धन रत्नादि आप से आप उसके पास आने लगेंगे ॥

८६–ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

४–ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा होने पर वीर्य का लाभ होता है।

जैसा कि अथर्व वेद संहिता काण्ड ११, अनुवाक् ३, सूक्त ५, मन्त्र १७–१८ हैं कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १८ ॥

अर्थ-राजा ब्रह्मचर्य तप से राज्य की विशेष रक्षा करता है, आचार्य ब्रह्मचर्य से युक्त ब्रह्मचारी को चाहता है। देवतों ने ब्रह्मचर्य तप से मृत्यु को जीता (मोक्ष पाया) इन्द्र ने ब्रह्मचर्य से देवों को स्वर्ग दिया।

ब्रह्मचर्य से अतिशय वीर्यलाभ होकर सब सिद्धि प्राप्त होती है ॥

ठीक है " जो वीर्य को रोकेगा, कुन्दन हो जावेगा " ॥

९०-अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥

५-अपरिग्रह की स्थिरता में यह बोध हो जाता है कि जन्म किस प्रकार हुवा ?

जब योगी भोग और उसके साधनों की अपेक्षा त्यागते २ शरीर का परिग्रह भी छोड़ देता है तो उसको यह सिद्धि हो जाती है कि वह जान सकता है कि मैं पूर्व-जन्म में कौन था ? कहां था ? कैसाथा ? इत्यादि। तथा यह भी जान सकता है कि आगे के जन्म में क्या होगा ॥

ठीक भी है कि देह पर्यन्त का परिग्रह (ममता अहन्ता) छूटने पर देह का तत्व (असलियत) साक्षात् जान पड़ेगा। ये पांचों यमों में फल वा सिद्धियां कहीं। आगे ५ नियमों के फल वा सिद्धियें क्रम से वर्णन करते हैं:—

९१-शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

१-शौच से स्वाङ्ग की जुगुप्सा (निंद्रा) और अन्यों से संसर्ग छूटता है ॥

जब योगी बाह्य शौच करता२ भी यह देखता है कि इस देहमें बड़ी अशुद्धियें हैं। जैसा कि:—

स्थानाद् बीजादवष्टम्भान्निष्पन्दान्निधनादपि।
कायामाधेयशौचत्वात्पण्डिताह्यशुचिं विदुः ॥

स्थान से, बीज से, अवष्टम्भ से, पसीने आदि से और मृत्यु से भी देह को शोधन का अधिकारी होने से पण्डित लोग अपवित्र जानते हैं। योनि जो देह का उत्पत्ति स्थान है-कैसा घिनौना है, वीर्य जिस से देह बनना आरम्भ हुवा-कैसा मलिन है, हड्डी, चर्म, मांस, रुधिर, मेदस, मज्जा जिन से देह ठहरा है—कैसे घृणित हैं मूत्र, विष्टा, आंख नाक कान के मल और रोम २ से टपकने वाला पसीना सभी कैसे दुर्गन्धयुक्त हैं और मृत्यु होने पर मृतक शरीर (शव) समस्त देह ही कैसा सड़ा-यंदा देखा जाता है इन सब मलिनताओं के कारण विद्वान योगी यथासम्भव स्नानादि द्वारा बहुत कुछ इसके शुद्ध रखने के उपाय रखता है इस शौच के करते हुवे

भी अपने सब अङ्गों को मलीन ही पाकर इनकी निन्दा करता और इस देह को छोड़ना चाहता है और अपने ही अङ्ग जब विधि पूर्वक शौच अनुष्ठान करते हुवे भी बुरे मलीन जान पड़ते हैं तब अन्य अशौच वालों के देहों से तौ संसर्ग क्यों करने लगा है जब अन्यों का संसर्ग नहीं चाहता, तब एकान्त वास चाहता है; बस यह सब फल शौच का है। इतना बाह्य शौच का फल कह कर अगले सूत्र में आभ्यन्तर शौच का भी फल बताते हैं :—

९२–सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

सत्व की शुद्धि, मन की भलाई, एकागृता, इन्द्रियों का जीतना और आत्मा के दर्शन = साक्षात्कार की योग्यता भी (शौच से) होती है ॥

जब योगी आभ्यन्तर शौच रखता है तो उसके बुद्धितत्व में शुद्धि आदि है उस से मन निर्मल हो जाता है; मन निर्मल होकर घिनौने विषयों से वैराग्य करके एकागृ होजाता है, एकागृ होने से इन्द्रियें वश में हो जाती हैं, फिर इन्द्रियों के विषयों से उपराम करने पर आत्मा का दर्शन होने लगता है। इस प्रकार शौच के ऐसे उत्तम फल होते हैं ॥

इस सूत्र के आरम्भ में दानापुर १८६६ ई० के छपे पुस्तक में " किं च " इतना पाठ अधिक है जो न अन्य पुस्तकों में न व्यास भाष्य में और न भोज वृत्ति में है ॥

९३–सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

२–सन्तोष से अनुत्तम सुख मिलता है ॥

सँसार में अन्य किसी को अनुत्तम सुख नहीं सन्तोषी को ही अनुत्तम सुख है। अनुत्तम सुख उसको कहते हैं कि जिस से अधिक अन्य कोई सुख न हो। सो जो लोग असन्तोषी हैं वे अन्यों के सुखों को अपने से अधिक देखते हुवे ईर्ष्याग्नि से जलते रहते हैं, परन्तु सन्तोषी तो अपने सुख में सन्तुष्ट है वह अन्यों के सुखों से स्पर्धा वा ईर्ष्या नहीं करता तब उसकी दृष्टिमें आपे से बढ़कर कोई सुखी नहीं जिससे वह स्पर्धा या ईर्ष्या करे। इसलिये सन्तोष से ही अनुत्तम सुख का लाभ होता है। मनुस्मृति में भी लिखा है कि :—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ ४ । १२ ॥

अर्थ–जो सुख चाहता है वह पूरा सन्तोष करके संयमी होवे, क्योंकि सुख का मूल सन्तोष और दुःख का मूल असन्तोष है ॥

९४-कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

३-तप से अशुद्धियों का क्षय और अशुद्धि क्षय से देह और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥

तप पूर्ण होने से पाप रूप अशुद्धि क्षीण हो जाती है और तब देह सिद्धि (अणिमादि) और इन्द्रिय सिद्धि (दूर श्रवण दिव्य दर्शनादि) हो जाती है ॥

९५-स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ४४ ॥

४-स्वाध्याय से मनचाहे देवतों का अनुकूल और साक्षात्कार होता है।

वेद पाठ के निरन्तर नियम पूर्वक स्वाध्यायसे इष्ट (जो मन से चाहे जायें उन) देवतों (वेद मन्त्रोंके ऊपर लिखे अग्नि वायु पूषा अर्यमा अंशुमान् आदि देवतानुक्रमणी के अनुसार प्रसिद्ध मन्त्र के वाच्य पदार्थों) की अनुकूलता होती है क्योंकि मन्त्रद्रष्ट रीति से उन दिव्य पदार्थों (देवतों) का सेवन किया जाता है, तथा उन देवतों में से कुछ तो साक्षात् हैं जैसे वायु आदि; परन्तु दूसरे कितने ही पूषादि अदृष्ट हैं उनका साक्षात्कार होजाता है ॥

व्यास भाष्य में इष्ट देवतों के संप्रयोग का अर्थ देवता = ऋषियों और सिद्धों का साक्षात्कार और अनुकूलवर्ती हो जाना लिखा है ॥

९६-समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

५-ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है ॥

क्योंकि ईश्वर कूटस्थ, अविचल, अगाध, अनन्त है, उसमें श्रद्धा भक्ति आदि के उद्रेक से योगी को समाधि = संप्रज्ञात की सिद्धि होजाती है। यूं ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि होने पर भी अन्य यम नियमादि की व्यर्थता नहीं। क्योंकि यम नियमादि तो ईश्वर प्रणिधान के भी सहायक हैं ॥

इस प्रकार १-यम. नियम और उनके फल कह कर अब क्रमागत ३-आसन का वर्णन अगले सूत्र में करते हैं कि :—

९७-स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिस में स्थिर सुख हो वह आसन है।

अर्थात् ऐसी रीति से पद्मादि आसन बांध कर बैठना चाहिये जिसमें योगाभ्यासी सुख (आराम) से बैठा रहे किसी अङ्ग के दबाव आदि से पीड़ा न हो। इस सूत्र के आरम्भ में भी तत्र पद किसी २ दानापुरादि के पुस्तक में पाया जाता है. जो मूल का पाठ नहीं किन्तु व्यास भाष्य का है ॥

अब आसन ठीक करने के साधन बताते हैं :—

९८-प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्न की शिथिलता और अनन्तों (पशु पक्षी आदि) के (अनुकरण से) साधने = सीखने से।

शरीरके न हिलनेके लिये प्रयत्न शिथिल करना चाहिये क्योंकि शरीर हिलने से आसन नहीं जमता। और अनन्त आकाशादि के विषय में चित्त लगाने से भी शरीर स्थिर होकर आसन सिद्ध हो जाता है। अनन्त = पशु पक्षी आदि के अनेक प्रकार के आसनों को देख कर उनका अनुकरण करने से भी आसन सिद्ध होता है। इहीं अनन्त पशु पक्षी गण के बैठने का ढङ्ग देख कर ही पूर्वाचार्यों ने पद्मासन, वीरासन, भद्रासन स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, समसंस्थानासन स्थिरसुखासन और यथासुखासन इत्यादि व्यास भाष्योक्त विविध आसन सीखे और लिखे जान पड़ते हैं॥

अब आसन का फल बताते हैं :—

९९—ततोद्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

उस से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती।

आसन सिद्ध होने से योगी के शरीर को शीतोष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं सताते, वह आसनों से सबका उपाय (चिकित्सा) कर लेता है। उसको ऐसे आसन लगाने की विधि आजाती है जिस से सर्दी न लगे, गरमी न लगे, पेट की गड़बड़ दूर हो, अन्य अनेक कष्टों की और रोगों तक की निवृत्ति हो सके। यह सूत्र दानापुर के पुस्तकस्थ मूल में नहीं पर भाष्य और वृत्ति में है। अब ४ चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम कहते हैं कि :—

१००—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४९॥

उस आसन के सिद्ध होजाने पर श्वास और प्रश्वास की गति रोकना प्राणायाम (कहाता) है।

वाह्य वायु को भीतर लेना श्वास और आभ्यन्तर वायु को बाहर फेंकना = प्रश्वास कहाता है, इन श्वास प्रश्वास की चाल बन्द कर लेना प्राणायाम है।

वह प्राणायाम ४ प्रकार का है, जिन में से ३ प्रकार का वर्णन अगले सूत्र में करते हैं :—

१०१—वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

१—वाह्य, २—आभ्यन्तर और ३—स्तम्भवृत्ति (भेद से ३) प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से देखा हुआ दीर्घ (परन्तु) सूक्ष्म होता है।

१—वाह्य प्राणायाम वह है कि जिस में प्राण को बाहर फेंकना होता है इसी को रेचक भी कहते हैं। २—आभ्यन्तर वह है जिस में प्राण को भीतर लेते हैं, इसी

को पूरक भी कहते हैं। ३-स्तम्भवृत्ति जिसमें प्राण को न बाहर फेंके न भीतर खैंचे किन्तु जहां का तहां रोकदें इसी को कुम्भक इस लिये कहते हैं कि जैसे कुम्भ = घड़े में जल छलकता नहीं, स्थिर रहता है वैसे ही प्राण की बाह्य गति और आभ्यन्तर गति दोनों को रोक कर स्थिर कर दिया जाता है। यह भोज वृत्ति का अनुसारी अर्थ है॥

दूसरे व्यासादि आचार्य यह अर्थ मानते हैं कि जिसमें श्वास को बाहर फेंक कर रोक दिया जाय वह बाह्य वा रेचक, जिस में भीतर खेंच कर रोक दिया जाय वह आभ्यन्तर वा पूरक नाम का प्राणायाम है। स्तम्भवृत्ति में मत भेद नहीं है। इस विविध प्राणायाम के और भी तीन भेद हैं। १-देश परिदृष्ट-जिस में थोड़ी दूर तक का प्राण खेंचा वा भरा जाय वा अधिक दूर तक का वा बहुत ही अधिक दूर का २-कालपरिदृष्ट जैसे १ क्षण वा २ क्षण वा अधिक क्षणों तक प्राण को फेंकना वा भरना वा ठहराना। ३-संख्यापरिदृष्ट जैसे १ वार प्राण को खेंचना वा रोकना ऐसे ही दो वार, तीन वार वा अधिक वार किसी संख्या तक, यह सब प्रकार का प्राणायाम बड़ा विस्तृत प्रकार का होने से " दीर्घ " और विचार की सूक्ष्मता और गहनता से " सूक्ष्म " भी है। अब चौथा प्राणायाम बताते हैं कि :—

१०२-बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर (दोनों) देशों में आक्षेप करने वाला चौथा (प्राणायाम) है॥

इस चतुर्थ प्राणायाम के लक्षण में तीसरे स्तम्भवृत्ति का भ्रम होता है पर तीसरे में बिना बाहर भीतर के देशों का पर्यालोचन किये प्राण एक बारगी रोक दिया जाता है और इस चौथे में बाह्यक्षेप और आभ्यान्तराक्षेप पूर्वक शनैः २ अभ्यास करके प्राण की गति रोकी जाती है। यह भी देश काल और संख्या से देखा गया है और दीर्घ सूक्ष्म पूर्वोक्त प्रकार का है॥

अब प्राणायामों का फल कहते हैः—

१०३-ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उस (प्राणायाम साधने) से प्रकाश का ढकना क्षीण हो जाता है।

चारों प्रकार का प्राणायाम सिद्ध होने से बुद्धिसत्व के प्रकाश का जो * आवरण = ढकना = क्लेश और उससे उत्पन्न पाप है उसका क्षय हो जाता है॥

यथा मनु :—

* बहुत लोग जो यह अर्थ मानते हैं कि " प्राणायाम से परदा (आवरण) नहीं रहता, सब पदार्थ चाहे वे भित्ति आदि के ओलट में हों दीखने लगते हैं " सो न तो व्यासभाष्यानुकूल है न युक्त जान पड़ता है॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ६ । ७१ ॥

अर्थ—जैसे अग्नि में धौंके हुवे (सुवर्णादि) धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं वैसे ही प्राण के निग्रह (प्राणायाम) से इन्द्रियों के दोष (मिथ्या ज्ञानादि) दग्ध हो जाते हैं ॥ और :—

१०४—धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है ।

धारणा जो ३ तृतीय पाद के प्रथम १ सूत्रमें कहेंगे उसके योग्य मन होजाता है अर्थात् प्राणायाम करने वाले का चित्त चाहे जिस देश में वशीभूत निश्चल होकर ठहरने योग्य हो जाता है । दानापुर के पुस्तक में सूत्रारम्भ में " किञ्च " पाठ अधिक है जो भाष्य का मिल गया जान पड़ता है ॥

बाबू प्रभुदयालु के अनुवाद में यह सूत्र नहीं छपा ।

अब प्राणायाम का वर्णन समाप्त करके ५ वें प्रत्याहार का आरम्भ करते हैं :—

१०५—स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

जब इन्द्रियों का अपने विषयों से समागम न हो और वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करने लगें (इसको) प्रत्याहार (कहते हैं)

इन्द्रियां चित्त के आधीन हैं जब चित्त विषयों से हटा तौ इन्द्रियां भी हटीं, और इन्द्रियां विषयों को न पाकर जब चित्त के स्वरूप का अनुकरण (नक़ल) करने लगें अर्थात् चित्त के समान निरुद्ध हो जावें उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥

यद्यपि इस सूत्र का पाठ बहुत पुस्तकों में " चित्तस्य स्वरूपानुकारः " ऐसा देखा जाता है, और केवल एक पुस्तक "योगसूत्रवैदिकवृत्ति" लाहोर में वैसा पाठ है, जैसा हमने ऊपर मूल में लिखा है, परन्तु यही पाठ व्यास भाष्य में पाया जाता है, यही भोजवृत्ति में और इसी पाठ में " स्वरूपाऽनुकार " का समास भी समर्थ होता है, इसलिये हमने बहुत पुस्तकों के पाठों का आदर न करके इसी एक पुस्तकस्थ पाठ को शुद्ध मान कर स्वीकार किया है ॥

१०६—ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

तब इन्द्रियों की परमावश्यता होती है ।

प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियां सर्वथा वशीभूत हो जाती हैं । इन्द्रियों के वश में होने का तात्पर्य लोग भिन्न २ प्रकार से मानते हैं । कोई तौ यह कहते हैं कि

श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयों में आसक्त न रहना=इन्द्रियों का वशीभूत होना है। दूसरे यह कहते हैं कि वेद ने इन्द्रियों से जिन विषयों के भोगने की आज्ञा दी है वा निषेध नहीं किया है उन विषयों का सेवन करना और निषिद्ध विषयों में इन्द्रियों को न लगने देना=इन्द्रियों का वश में करना है। तीसरे कहते हैं कि विषयों में इन्द्रियां जावें तो पर अपनी इच्छा से जावें विषयाधीन न जावें इसको इन्द्रियों की वश्यता कहते हैं। चौथे कहते हैं कि शब्दादि विषयों में इन्द्रियां मध्यस्थ भावसे लगें अर्थात् बहुत न फंस जावें (एतदाल से रहें) इसको इन्द्रियों का जीतना समझो। ५ वें कहते हैं कि नहीं चित्त की एकाग्रता से उसका इन्द्रियों सहित विषयों में न प्रवृत्त होना=जितेन्द्रियता कहाती है। यही जैगीषव्य का मत है और यही ५ वां पक्ष भगवान सूत्रकार पतञ्जलि मुनि और भाष्यकार व्यास मुनि को भी अभिमत है और भोजवृत्ति के भी अनुकूल है॥

इस प्रकार इस पाद २ में प्रथमपादोक्त योग के अङ्ग भूत क्लेशों के तनूकरण फल वाला क्रिया योग, क्लेशों के नाम स्वरूप कारण, क्षेत्र और फल कह कर कर्मों के भेद कारण स्वरूप और फल बता कर विपाक का कारण और स्वरूप बताया गया। फिर इसलिये कि ज्ञान के विना क्लेश त्यागे नहीं जा सकते ज्ञान शास्त्र विना नहीं हो सकता और शास्त्र १-हेय, २-हानकारण, ३-ग्राह्य और ४-गृहण कारण इन ४ चार व्यूहों से युक्त है इसलिये इन चारों व्यूहों का वर्णन किया गया। इन चारों में ग्राह्य वा उपादेय का कारणभूत विवेकख्याति है और उसके कारण अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भेद से यमादि ८ साधन हैं इसलिये उन यम नियमादि के स्वरूप और फल बताये गये। उनमें आसन से लेकर धारणा पर्यन्तों का आपस में उपकार्य उपकारक सम्बन्ध है अर्थात वे एक दूसरे के परस्पर सहायक हैं। उनमें से ५वें प्रत्याहार तक को बहिरङ्ग साधन जान कर इस पाद को आचार्य ने समाप्त कर दिया। अब शेष ३ धारणा ध्यान समाधि को अन्तरङ्ग साधन होने से विभूति पाद नाम तीसरे पाद में कहेंगे॥

आदौ योगस्तथा क्लेशा मध्ये व्यूहचतुष्टयम्।
योगाङ्गपञ्चकं चान्ते पादेस्मिन्नुपवर्णितम्॥ १॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते योगदर्शनभाषानुवादे
द्वितीयः साधन पादः॥ २॥

* ओ३म् *

अथ विभूतिपादः ॥ ३ ॥

पूर्व पाद में योग के बहिरङ्ग ५ अङ्गों का वर्णन हुवा, अब शेष तीन ३ अन्तरङ्ग अङ्गों वा साधनों से छठी धारणा का वर्णन करते हैं :-

१०७—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्त का (किसी) नाभि चक्र हृदयकमल, मूर्धा, भ्रूमध्य, नेत्रकोण नासिकाग्र इत्यादि) देश में बाँधना धारणा कहाती है ॥

अपने देह के अवयवों को छोड़कर चन्द्र सूर्य तारा आदि में वा किसी भी एक देश में चित्त लगाना धारणा है ॥

१०८—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा रहना ध्यान है ॥

किसी देश में जब चित्त लगाया जाय वह तौ धारणा है और धारणा में ही जब अभ्यास पक जाने से चित्त डिगे नहीं किन्तु उस देश का (जिस नाभि चक्रादि में चित्त लगाकर धारणा की थी) ज्ञान एक सा बना रहै इसको उस देश का ध्यान कहते हैं ॥

कोई लोग इसी को ब्रह्म का ध्यान समझ कर भ्रम में पड़ते हैं । ब्रह्म वाङ्मनसाऽतीत है, वाणी और मन (चित्त) का विषय न होने से ब्रह्म की धारणा वा ब्रह्म का ध्यान सम्भव नहीं, किन्तु जहां कहीं "ब्रह्म का ध्यान" अन्यत्र शास्त्रों में कहा है, वहां " ध्यान " शब्द से योगदर्शन का लाक्षणिक ध्यान विवक्षित नहीं, किन्तु आत्मा में जो (प्राकृत मन वा चित्त में नहीं) ज्ञान शक्ति है, तद्द्वारा ब्रह्म को जानना ही ब्रह्म का ध्यान समझना चाहिये ॥

१०९—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

वही (ध्यान) जब उसमें अर्थ (जिस देश में ज्ञान एक रस हुवा हो) मात्र का प्रकाश हो और अपने रूप से शून्य सा होजावे उसको समाधि कहते हैं ॥

धारणा में चित्त किसी देश में बांधा जाता है, ध्यान में उस देश विशेष का ज्ञान एक रस होजाता है और समाधि में देश विशेष के ज्ञान का एक रसपना भी स्वरूप से शून्य सा होजाता है । " शून्य " न कहकर " शून्य सा " कहा है इस से समाधि में पदार्थान्तरों का अभाव होजाना कोई जानता हो, उसका निरास कर

दिया है। केवल भेद यह है कि ध्यान, में ध्याता, ध्यान ध्येय ३ तीन प्रतीत होते हैं और समाधि में अर्थमात्र (ध्येय ही) प्रकाशता है; ध्यान करने वाला = ध्याता और ध्यान रहते हैं, पर शून्य (न रहें) से होजाते हैं ॥

११०-त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तीनों एकट्ठे संयम कहाते हैं ॥

१. धारणा, २ ध्यान और ३ समाधि इन तीनों का नाम योगशास्त्र में 'संयम" है। इस संज्ञा का व्यवहार (१२२) आदि सूत्रों में आवेगा ॥

१११-तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) के जय (सिद्ध होने) से प्रज्ञा का अलोक (नैर्मल्य) होजाता है ॥

धारणा, ध्यान और समाधि (संयम) के जय का तात्पर्य इनको बारम्बार के अभ्यास से स्वाधीन करके सिद्ध कर लेना है। इसका फल यह है कि बुद्धि निर्मल होजाती है, उसमें मल न रहने से दूरस्थ वा दीर्घकालान्तरित विषयों का भी सम्यक् ज्ञान होजाता है ॥

११२-तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस (सँयम) का भूमियों (प्रथमपादोक्त सवितर्कादि) में विनियोग है ॥

जब सँयम करना आजावे तो योगी पूर्व पूर्व भूमि का विजय करता हुआ उत्तर उत्तर भूमि का विजय करने में सँयम को काम में लावे। प्रथम सवितर्का समापत्ति में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) लगावे, पुनः निर्वितर्का में अनन्तर सविचारा में और फिर निर्विचारा में। योगभूमियों के स्मरणार्थ देखो पूर्व सूत्र (४२-४४)

११३-त्रयमन्तरङ्ग पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

तीन (धारणा, ध्यान, समाधि) पूर्वोक्तों (यमादि पांचो) से अन्तरङ्ग हैं ॥

यम नियमादि द्वितीय पाद के अन्त तक कहे अङ्गों की अपेक्षा इस तृतीयपाद के आरम्भ में कहे धारणादि तीनों योग के अन्तरङ्ग साधन हैं। उनकी अपेक्षा यमादि वहिरङ्ग हैं क्योंकि यमादि पांचो का व्यवहार अन्तरात्मा में ही नहीं किन्तु बाह्य जगत् में स्नान शौच तप आदि द्वारा होता है और इन तीन धारणादि का कार्य भीतरी है। इसी लिये भूमियों में धारणादि संयम करना कहा है ॥ परन्तु—

११४-तदपि बहिरङ्ग निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह (संयम) भी निर्बीज (समाधियोग) का बहिरङ्ग है (अन्तरङ्ग नहीं) ॥

धारणा, ध्यान, समाधि (संयम) को जो पूर्व (सूत्र ११३) में अन्तरङ्ग साधन बताया है सो संप्रज्ञात वा सबीज (देखो सूत्र ४६) समाधि का अन्तरङ्ग साधन कहा

जानो। असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधिका तो संयम भी बहिरङ्ग साधन ही है, क्यों कि निर्बीज में तो न ध्याता न ध्यान न ध्येय कुछ भान नहीं होता ॥

अब तीन परिणामों का वर्णन करते हैं, क्योंकि आगे इसी पाद में [परिणामत्रयसंयमात् ० (१२२)] परिणाम संज्ञाका काम पड़ेगा। उन तीन परिणाम में से ही प्रथम निरोध परिणाम कहते हैं:-

११५—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ । निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

व्युत्थान संस्कार का छिपना और निरोध संस्कार का प्रकट होना और निरोधक्षण के चित्त में जिसका अन्वय हो, उसको निरोधपरिणाम कहते हैं ॥

चित्त के ३ परिणाम हैं। उन में निरोधपरिणाम वह है जिसका निरोध समय (क्षण) के चित्त से संबन्ध है और जिस में व्युत्थान (चित्त की क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त भूमिकाओं) के संस्कार का निरोधभाव और निरोध के संस्कार का प्रादुर्भाव हो॥

इस में निरोधपरिणाम लक्ष्य है। 'निरोधक्षणचित्तान्वयः' उसका विशेषण हैं और 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ लक्षण है ॥

११६—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सँस्कार से उस (चित्त) की प्रशान्तवाहिता होती है ॥

व्युत्थान संस्कार के दबने और निरोधसंस्कार के उभरते रहने से जो निरोधाभ्यास का संस्कार होता है, उस संस्कार से चित्त का बहाव प्रशान्त (एकरस) हो जाता है ॥

अब दूसरे समाधि परिणाम को वर्णित करते हैं:—

११७—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

जिसकी सर्वार्थता (सब विषयोंमें दौड़) का क्षय और एकाग्रता (किसी एक विषय में लाग) का उदय होना (और समाधिसमयक चित्त से जिस का सम्बन्ध हो वह समाधिपरिणाम है ॥

इस सूत्र में (११५ में से) क्षणचित्तान्वय की अनुवृत्ति करके निरोधक्षणचित्तान्वय के बदले में समाधिक्षणचित्तान्वय पद को इस दूसरे 'समाधिपरिणाम' का विशेषण समझना चाहिये और 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ' को लक्षण समझाना चाहिये। जिस में समाधिक्षण (समय) के चित्त से सम्बन्ध हो और सर्वार्थता का क्षय तथा एकाग्रता का उदय हो उसको समाधिपरिणाम कहते हैं ॥ और तीसरा—

११८—शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥१२॥

जिस में एक समान चित्त का पहला प्रत्यय (ज्ञान) शान्त और वर्तमान (नया) प्रत्यय उदित हो (और जिसका एकाग्रताक्षणचित्त से सम्बन्ध हो) वह एकाग्रतापरिणाम है ॥

शान्त (अतीत=बीतचुका) प्रत्यय भी चित्त का धर्म है और उदित (नया उदित होकर वर्त्तमान) प्रत्यय भी चित्त ही का धर्म है, ये दोनों प्रत्यय (ज्ञान) जिस में एक से हों उसको 'एकाग्रतापरिणाम' कहते हैं ॥

इस सूत्र में 'ततःपुनः" इतना आरम्भ का पाठ किन्हीं २ पुस्तकों में पाया जाता है, पर न तो व्यासभाष्य में उसका व्याख्यान मिलता है, न भोजवृत्ति में और एक पुस्तक में जो व्यासभाष्ययुक्त है पूर्वसूत्र का भाष्य समाप्त करके "ततःपुनः-" पाठ देखा जाता है इससे अनुमान होता है कि यही पाठ किसी २ पुस्तक के मूल में मिल गया है ॥

यह भी जानना चाहिये कि ये तीनों परिणाम क्रम से होते हैं। प्रथम निरोध परिणाम, उस निरुद्ध से समाधि परिणाम और समाहितचित्त का उसी से एकाग्रता परिणाम ॥

११९-एतेनभूतेन्द्रियेषुधर्मलक्षणावस्थापरिणामाव्याख्याताः १३

इस से भूतों और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्था परिणाम (भी) व्याख्यात हैं ॥

इस चित्त के जैसे ३ तीन परिणाम कहे ऐसे ही पृथिवी आदि भूतों और चक्षुरादि इन्द्रियों में भी धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने चाहियें ॥ पृथिव्यादि ५ भूत सत्व रज तम भेद से त्रिगुणात्मक हैं और चक्षुरादि ५ ज्ञानेन्द्रिय भी त्रिगुणात्मक हैं । इसी प्रकार आत्मातिरिक्त जगत् सब प्राकृत पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। उन में पहिला परिणाम (तर्ग़ैयुर) धर्म परिणाम है। जैसे पृथिवी का परिणाम घट पट मनुष्य पशु पक्षी आदि। इसी प्रकार दूसरा जो लक्षण (कालभेद) से है वह लक्षणपरिणाम है। इस दूसरे लक्षण परिणाम से पहला धर्मपरिणाम अलग नहीं होता । जैसे मृत्तिका के पिण्ड से कपाल, कपालों से घट कपास से सूत सूतों से पट (वस्त्र) इत्यादि धर्मपरिणाम दूसरे लक्षणपरिणाम में भी साथ रहते हैं अलग नहीं होते। पूर्व घट वर्त्तमान घट भविष्यद् घट पूर्व गौ, वर्त्तमान गौ भविष्यत्=होने वाली गौ। इन दोनों धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणामों को साथ लिये हुवे तीसरा अवस्थापरिणाम होता है। जैसे जवान गौ मनुष्य पक्षी, बूढ़े मनुष्य पशु पक्षी आदि वा पुराना नया घट इत्यादि। ऐसे ही आंख आदि इन्द्रियों में किसी विषय (रूप) का देखना किसी का न देखना आदि धर्मपरिणाम फिर भूत भविष्यत् वर्त्तमान के भेद से लक्षणपरिणाम और स्पष्ट धुन्धला देखना आदि अवस्थापरिणाम हैं ॥

बात यह है कि पृथिव्यादि के घटादि एक तो अतीत (होचुके) परिणाम हैं

दूसरे वर्त्तमान (होरहे) परिणाम हैं और तीसरे भविष्यत् (होने वाले) परिणाम हैं। होने वाले भविष्यत् परिणाम भी योगाचार्य के मत में शक्ति रूप से अवस्थित हैं। जैसे पीपल आदि के बीज से खाद वायु जल ऋतु का अवसर पाकर पीपल आदि के ही वृक्ष उगेंगे यदि वृक्षादि भविष्यत् धर्म परिणाम उस के बीजादि में शक्तिरूप से अवस्थित (मौजूद) न हों तो किसियों से कोइयों सा परिणाम होजावे। पीपल से वट और वट के बीज से पीपल के वृक्ष आदि परिणाम हो जाया करें पर ऐसा होता नहीं। इस से भविष्यत् धर्मपरिणामों को वर्त्तमान धर्मों में शक्तिरूप से अवस्थित मानना ठीक है॥

अब यह कहते हैं कि जिस धर्मी का यह धर्मभेद, कालभेद, अवस्थाभेद से ३ प्रकार का परिणाम कहा है उस धर्मी का क्या लक्षण है ? उत्तर—

१२०—शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

जो धर्म हो चुके वे शान्त, जो वर्त्तमान हैं वे उदित, और जो होवेंगे वे अव्यपदेश्य (बताये वा निर्देश नहीं किये जा सकते हैं कि ये हैं) इन तीनों धर्मों से जिस का अन्वय अनुपतन वा सम्बन्ध होता है, वह धर्मी है॥

जैसा बन चुके घट से, बन रहे घट से और बनने वाले घट से मृत्तिका का आवश्यक अन्वय (सम्बन्ध) है इस लिये घट धर्म और मृत्तिका धर्मी हैं। यहां यह धर्म धर्मी व्यवहार जो उदाहृत किया है, सो सापेक्ष है निरपेक्ष तो प्रकृति ही एक धर्मी है शेष महत्तत्व अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र इन्द्रियें उन के सङ्घात शरीर आदिसब जो क्रम से पूर्व २ धर्मी और उत्तर २ धर्म हैं उन सब का निरपेक्ष धर्मी पदार्थ केवल प्रकृति है। आत्मा अपरिणामी होने से किसी धर्मपरिणाम का धर्मी नहीं॥

जिस प्रकार अन्य दर्शनों में गुण और गुणी को प्रायः धर्म धर्मी कहते हैं वैसी परिभाषा यहां योग में नहीं तो कारण को धर्मी और कार्य को धर्म मान कर धर्म परिणाम बताया है जो कालभेद और अवस्थाभेद से फिर ३। ३ प्रकार का कहा गया है॥

इस प्रकार घटादि और कुण्डलादि धर्मों (कार्यों) से अन्वय रखने वाला मृत्तिकादि और सुवर्णादि (कारण) पदार्थ यहां धर्मी पद का अर्थ (वाच्य) है। इसी धर्मी के धर्म का ग्रहण पूर्व सूत्रोक्त धर्मपरिणाम शब्द में करना चाहिये तथा अन्यत्र भी इस शास्त्रमें यही व्यवहार जानो॥

अब यह कहते हैं कि धर्मी पृथिव्यादि का धर्मपरिणाम घटादि जो ३। ३ प्रकार का है से बस यही ३ प्रकार वा भेद हैं वा इस में भी अन्य भेद हैं ? यदि हैं तो उन का कारण क्या है ? उत्तर—

१२१—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमभेद, परिणामभेद में कारण है॥

क्योंकि पहले मिट्टी उस से पीछे सनी मिट्टी का पिण्ड, उस से पीछे कपालद्वय, उस से पीछे घट, इसी प्रकार प्रथम बिनौला फिर उसका वृक्ष (बाड़ी) फिर कपास फिर रुई, फिर तार, फिर पट (वस्त्र) इत्यादि प्रकार क्रमसे एक २ धर्मों का अगला २ धर्म परिणाम होता है इस लिये परिणाम के बहुत भेदों का कारण क्रम का भेद है अर्थात् इस क्रम भेद से मिट्टी धर्मी. पिण्ड धर्म; पिण्ड धर्मी कपालद्वय धर्म कपालद्वय धर्मी घट धर्मपरिणाम हुवा। ऐसे ही बिनौले से वस्त्र तक परिणाम की भिन्नता है। जिस प्रकार यह धर्मपरिणाम अनेक भेद भिन्न है, इसी प्रकार भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालकृत परिणाम जो लक्षण परिणाम कहाते हैं वे भी बहुत प्रकार के हुवे और इसी प्रकार के अवस्थापरिणाम के भी अनेक भेद जानो॥

इन में से धर्मपरिणाम तौ कभी कभी होता है प्रतिक्षण नहीं होता, परन्तु लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम प्रतिक्षण नियम से होते ही रहते हैं॥

तीनों परिणाम विवेक से प्रतिपादन किये गये। अब तीनों परिणामों के संयम (देखो सूत्र ११०) का फल (सिद्धि) बताते हैं:—

१२२–परिणामत्रयसंयमादतीताऽनागतज्ञानम् ॥१६॥

तीनों परिणामों के संयम में भूत भविष्यत् का ज्ञान होता है॥

जब धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम से किसी विषय को योगी प्रतीत करता है तौ उस २ के धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणामों में पूरा २ संयम करनेसे उस २ पदार्थकी भूत और भविष्यत् स्थिति योगीको ज्ञात होजाती है॥

यहां से सिद्धियों वा विभूतियों का आरम्भ है। इन विभूतियों के सम्भव असम्भव पर अनेक लोग तर्क करते हैं परन्तु जो विषय अनुभवगम्य है उस पर केवल तर्क से काम नहीं चल सकता। किसी पदार्थ की धारणा ही कितना कठिन काम है कि चित्त का सर्वथा देशविशेष में बांध देना फिर ध्यान उससे भी कठिन है जिस में एकसा ही प्रत्यय (ज्ञान) बना रहे। अन्त में समाधि उससे भी गहन है कि जिस में चित्त इतना उस ध्येय विषय में लग जावे कि आपे को भूल कर शून्य सा हो जावे और विषयाकार बनकर केवल उस विषय का ही प्रकाश रह जावे। भला जब इतना किसी पदार्थ का ग्रहण किया जावे तब उसकी भूत भविष्यत् दशाओं का जानना असम्भव क्या है। तत्वों का अन्वेषण करने वालों ने वर्तमान कठिन भूमि पिण्ड (पृथिवी के गोले) को देखकर उसकी पूर्वावस्था पिङ्घली हुई का ज्ञान कर लिया अन्त में वह जल रहित शुष्क हो जायगी जैसे चन्द्रमा प्रथम तप्त था फिर जल मय हुवा. अब शुष्क हो गया इत्यादि जान लिया, तब योगी को चित्त के वशीभूत करने पर अतीताऽनागत का ज्ञान क्या बड़ी बात है? इसी प्रकार अन्य विभूतियों पर भी अनुमान द्वारा अयोगी भी योग की सिद्धियों पर श्रद्धा ला सकते हैं॥

अब दूसरी विभूति कहते हैं:—

१२३—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत् । प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) में परस्पर अन्य को अन्य समझने से (सबका) सङ्कर (एकमेक) हो जाता है । (परन्तु) उन (शब्द अर्थ ज्ञानों) के विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की बोली ज्ञात हो जाती है ॥

अयोगी लोग शब्द, अर्थ और ज्ञान को प्रायः एक ही समझते हैं । वे जानते हैं कि गौ यह शब्द, गौ यह अर्थ और गौ यह ज्ञान एक ही वस्तु है । वे अर्थ को शब्द समझ लेते हैं ज्ञान को अर्थ समझ लेते हैं और शब्द को अर्थ समझ लेते हैं, जैसा कि कोई उनसे पूछे कि क्या गौ आगई ? तौ वे समझते हैं कि गौ जाति वाला, मास्ना [जो गौ के गले के नीचे चर्म लटकता रहता है] आदि से युक्त देह वाला, पशु विशेष ही गौ है वही गौ यह शब्द है, वही गौ यह ज्ञान है । ऐसे लोग गौ शब्द से उसी का ग्रहण करते और वही ज्ञान करते [समझते] हैं ऐसे लोगों की दृष्टि में शब्द अर्थ और ज्ञान का सङ्कर [एकमेक वा गड्डमड्ड] हो जाता है । उनको यह ज्ञात नहीं कि गौ यह शब्द तौ केवल वाचक है मास्नादि वाला पशु विशेष अर्थ = वाच्य है और गौ शब्द कहने और सुनने से हमको ज्ञान (तदाकार बुद्धि) उत्पन्न होती है वह ज्ञान है । परन्तु योगि उन शब्द में पृथक् धारणा ध्यान समाधि रूप संयम करता है । अर्थ में पृथक् और ज्ञान में पृथक् । वह यह नहीं समझे बैठा रहता कि गौ शब्द कहने से मास्नादिमान् पशु विशेष ही का ग्रहण कर, प्रत्युत वह यह भेद जानकर कि जैसे भारतीय आर्यों (हिन्दुवों) ने गौ शब्द से संकेत कर लिया है कि मास्नादिमान् पशु विशेष का गृहण करना, उस से भिन्न अङ्गरेजों ने "कौ" शब्दसे उसी अर्थ का संकेत कर लिया है और उससे भी भिन्न फ़ारसी बोलने वालों ने "गाव शब्द से उसी अर्थ का सङ्केत कर रक्खा है । यदि गौशब्द गौ अर्थ और गौ ज्ञान एक होता तौ मनुष्यमात्र प्रत्युत प्राणिमात्र को गौ शब्द सुनकर मास्नादिमान् पशु विशेष का ज्ञान हो जाता पर ऐसा नहीं होता किन्तु जिन्हों ने जो संकेत कर लिया है उसी संकेतसे वे उस अर्थ को समझते हैं । इस लिये यह नियम नहीं कि किसी शब्द से सर्वत्र सब प्राणी किसी एक नियत अर्थ को ही समझें । इस दशा में जब देश भेद से मनुष्यों में ही एक अर्थ के लिये भिन्न २ शब्दों से संकेत नियत हैं तब पशु पक्षीआदि अपने नासा कण्ठ, उरस, तालु आदि की बनावट के भेद से जो २ शब्द कर सकते हैं उन २ शब्दों से उन २ पशु पक्षी आदि ने भी जो २ संकेत कर रक्खा है. उस में धारणा ध्यान समाधिरूप संयम करके योगी सुगमता से उन के अर्थ जान सकता है । किसी २ यूरोप के संयमी ने बान्दरादि कई पशु और पक्षियों की बोलीका ज्ञान प्राप्त कर लिया । जैसे आज कल सुना देखा जाता है वैसे भारत में अनेक सिद्ध योगी हुवे हैं जो अन्य प्राणियों के शब्दों का अर्थ समझते थे और ऐसे ही हम लोग उस २ पशु पक्षी आदिके

शब्द अर्थ और ज्ञान में विभागपूर्वक संयम करें तो उनको जान सकते हैं॥
अब तीसरी विभूति बताते हैं:-

१२४-संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्व (जन्म) जातिका ज्ञान हो जाता है॥

जैसे स्थूल देह से व्यायामादि करने से इस देह के ऐसे संस्कार होजाते हैं, जिनको देखकर (साक्षात् करके) यह तत्काल ज्ञान हो जाता है कि यह मनुष्य व्यायामशील (कसरतिया) है ऐसे ही शुभाऽशुभ कर्म जो पूर्वजन्म में किये हों उन से अन्तः करण में ऐसे संस्कार हो जाते हैं जिन संस्कारों को लेकर यह जीव वर्त्तमान देह में आया है अब योगी संयम द्वारा जब उन अन्तःकरणस्थ संस्कारों को साक्षात् करता है जिनको अयोगी चलचित्त होने से नहीं प्रतीत कर सकता, तब योगी संस्कारों को साक्षात् करके यह जान लेता है कि ऐसे संस्कार तो अमुक योनि में अमुक कर्म करने से होते हैं। बस इस प्रकार योगी संस्कारों के साक्षात् से पूर्व जाति और उस जाति में किये कर्मों का पता लगा सकता है॥

एक अङ्गरेज़ हाकिम गवाह आदि की चेष्टा को देखकर उसके कार (पेशे) को बता देता था कि तू लुहार है, भड़भूजा है, बढ़ई है धुना है इत्यादि। बात क्या थी ? यही कि उस २ पेशे के करने से मनुष्य के देह पर उस २ पेशे के कामों का प्रभाव (असर वा संस्कार) पड़ता है उस २ संयम करके वह हाकिम जान लेता था। इसी प्रकार आन्तरिक सँस्कारों को संयम द्वारा साक्षात् करने से पूर्व जाति का ज्ञान सम्भव है जो संयमी योगी को होता है॥

जिस प्रकार पूर्व जाति का ज्ञान संस्कारों के साक्षात्कार से कहा ऐसे ही पर जाति (अगले भविष्यत् जन्म) का ज्ञान भी जानो॥

व्यासभाष्य में इस पूर्वजातिज्ञान पर एक कथा लिखी है कि:=

"भगवान् जैगीषव्य को संस्कारों के साक्षात् करने से (पिछले) दश महाकल्पों में (हुये) जन्मों की परम्परा (सिलसिले) को देखते हुवे विवेकज ज्ञान उत्पन्न हुवा। फिर देहधारी भगवान् आवट्य ने उन (जैगीषव्य) से कहा कि दश महाकल्पों में कल्याणस्वरूप होने से अलुप्तबुद्धिसत्व वाले, नरक और तिर्यक् (पश्वादि) गर्भ से उत्पन्न दुःख को भले प्रकार देखते हुये देवों और मनुष्यों में बारम्बार जन्म पाते हुवे आप ने सुख और दुःख में अधिक क्या अनुभव किया ? तब भगवान् आवट्य से जैगीषव्य बोले कि दश महाकल्पों में कल्याणस्वरूप होनेसे अलुप्त बुद्धिसत्व नरक और तिर्यक् योनियों के दुःख को भले प्रकार देखते हुवे देवों और मनुष्यों में बार बार उत्पन्न होते हुवे मैंने जो कुछ अनुभव किया वह सब दुःख ही समझता हूं। भगवान् आवट्य ने कहा कि आयुष्यमान् (आप) को जो यह प्रकृति वशित्व और सब से बढ़ कर सन्तोष सुख है क्या इस को भी (आप ने) दुःख की ओर ही रख दिया ? भगवान् जैगीषव्य ने कहा कि विषयसुख की अपेक्षा से ही यह

सन्तोष सुख सब से बढ़ कर कहा है, मोक्ष की अपेक्षा से (यह भी) दुःख ही है। (क्योंकि) यह बुद्धिसत्व का धर्म (परिणाम, धर्म) त्रिगुणात्मक है, त्रिगुणात्मक का जो प्रत्यय (अनुभव वा ज्ञान) है सो दुःख पक्ष में (ही) डाला गया। तृष्णामूल दुःखरूप है, तृष्णा दुःख सन्ताप के दूर होने से प्रसन्न, बाधारहित, सर्वानुकूल यह सुख कहा है"। अब चौथी विभूति कहते हैं:—

१२५—प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्यय के (साक्षात् करने से) पराये चित्त का ज्ञान हो जाता है॥

पराये मुख की आकृति आदि देख कर जब योगी उस की बुद्धिवृत्ति (प्रत्यय) में धारणा, ध्यान, समाधि रूप तीनों संयम कर के साक्षात् करता है तब योगी को पराये चित्त का ज्ञान इतना हो जाता है कि इसका चित्त ऐसा है अर्थात् रागयुक्त है वा वैरागयुक्त है इत्यादि परन्तु योगीको पराये चित्त का विषय ज्ञात नहीं होता कि उसका चित्त अमुक विषय में लगा (रक्त) है क्योंकि योगी ने उस के प्रत्यय में संयम किया है; न कि उस पराये चित्त के विषय (अन्य स्त्री आदि) में। यही बात भाष्यकार व्यासदेव ने लिखी है कि:—

न च तत्सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वात्

वह परचित्तज्ञान आलम्बनसहित (परचित्त के विषय सहित) नहीं होता क्योंकि योगी के संयम का विषय (पराये चित्त का विषय—स्त्री पुत्र धनादि) नहीं। इतनी व्यासदेवकृत भाष्य की पंक्ति को किसी २ व्याख्याकार ने भ्रम से पृथक् सूत्र मान कर भी व्याख्या की है पर वह भाष्य के विपरीत है। भोजवृत्ति आदि कई वृत्तिकार भाष्य को इस पंक्ति के आगे बढ़ कर यहभी कहते हैं कि जब योगी पराये चित्त-मात्र का संयम करे तब तो चित्तमात्र के धर्म ज्ञात होते हैं, परन्तु जब यह भी विचारे कि इस पराये चित्त ने किस विषयका आलम्बन किया हुवा है तब वह विषय भी ज्ञात हो जाता है। हमारी समझ में भाष्यकार का कथन ही अधिक सम्मत है॥

अब पांचवीं विभूति कहते हैं॥

१२६—कायरूप संयमात्तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशाऽसंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २० ॥

देह के रूप में संयम करने से उस की ग्राह्यशक्ति थम जाने पर आंख के प्रकाश से संयोग न रहे तब (योगी को) अन्तर्धान (सिद्धि हो जाती है)॥

जब योगी अपने देह के रूप (चक्षुर्ग्राह्य विषय) में संयम करके उस स्वदेह की ग्राह्यशक्ति रोक देता वा थाम देता है तब अन्यों की आंखें योगी के शरीर पर काम नहीं देतीं और योगी इस से सब के सामने बैठा हुवा भी किसी को नहीं

दीखता छुपा रह सकता है। जैसी आंख में देखने की शक्ति है वैसी दृश्य पदार्थ में दीखने की भी शक्ति है। जब ये दोनों शक्तियें हों तब किसी को कुछ दीखता है। जब इन दोनों शक्तियों में से एक भी स्तब्ध = रुक जावे तब नहीं दीख सकता। जैसे अन्धे की आंख बनी रहें पर उन में देखने की शक्ति न रहे तो दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार देखने योग्य वस्तु में दीखने की शक्ति न रहे वा रोक दी जावे तो भी दिखाई नहीं दे सकता। भाष्यकार व्यास जी ने इस पर लिखा है किः—

एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्

इस से शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध) का अन्तर्धान (छिपाव भी) कहा जानो ॥

अर्थात् योगी जब अपने शब्द में संयम करके शब्द की ग्राह्यशक्ति को रोक दे तो योगी का शब्द किसी को सुनाई न देगा यदि वह अपने देहकी स्पर्श (छुए जाने) की शक्ति को रोक दे तो फिर योगी को कोई छूकर न जान पावेगा। यदि वह अपने रस (आस्वाद्य) शक्ति को रोक दे तो उस योगी को मुखसे चुम्बनादि करके भी कोई उस के देह का स्वाद न जान सकेगा और यदि वह अपने देह के गन्ध में संयम करके घ्रेय (सूंघे जा सकने) की शक्ति को रोक दे तो योगी का गन्ध किसी को प्रतीत न होगा। अर्थात् जैसे रूप में संयम करके योगी अपना रूप छिपा सकता है वैसे अन्य चारों तन्मात्रों को भी अन्तर्हित कर सकता है। इस भाष्य की पङ्क्ति को भी भोज-वृत्यादि में सूत्र मान कर व्याख्या कर रक्खी है ॥

योगी की इस अन्तर्धान विभूति पर लोग आश्चर्य करते हैं परन्तु योगी यथार्थ में आश्चर्ययोग्य बन जाता है। जब कि यूरोप के विद्वानों ने शब्दों को पकड़ कर फ़ोनोग्राफ़ में भर दिया, विना तार के वायु में समाचार भेजने की रीति निकालली, वैद्योंने संमोहन (क्लोरोफ़ार्म आदि) द्वारा स्पर्शादि ज्ञान को रोक दिया, इत्यादि चमत्कार स्थूल पदार्थों में जब आश्चर्य न रहे तब योगी जो धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम करना जाने. उस की शक्ति से क्या बाहर है कि वह अपने देह के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धों को रोक ले और किसी को ज्ञात न होने दे ॥

अब छटी विभूति कहते हैं ॥

१२७–सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म, तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २१ ॥

कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम (दो प्रकार का है) उस में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होजाता है ॥

जो कर्म शीघ्र फल दें वे सोपक्रम, जो देर से फलें वे निरुपक्रम कहाते हैं, इन दोनों कर्मों में पूरा २ संयम करने से आयु कितनी होगी कहां कब देह छुटेगी,

इसका ज्ञान हो जाता है। क्योंकि आयुर्विपाक कर्मों के अनुसार आयु की समाप्ति पर मृत्यु होती है। योगी तत्काल किये कर्म जिनका फल भी शीघ्र हो उन सोपक्रम कर्मों में भी संयम करे और पिछले देर में फल देने वाले निरुपक्रम कर्मों में भी संयम करे तो उन कर्मों के अनुसार होने वाले मृत्यु के देश और काल को जान सकता है, तथा अरिष्टों से भी मरण समय को जान लेता है। अरिष्ट तीन प्रकार के हैं:- १-आध्यात्मिक = अपने कानों पर हाथ धरके भीतरी प्राणका घोष सुनाई न दे इत्यादि। २-आधिभौतिक = अकस्मात् डरावने पुरुष वा मरे पिता आदि को देखने लगे कि जानो सामने खड़े हैं। ३- तारग्रहमण्डल से मण्डित आकाश को पहले से विपरीत देखने लगना वा सब उलट पलट दीखने लगना। इन तीनों अरिष्टों से भी योगी मरण समय को जान लेता है। यद्यपि इन अरिष्टों से वैद्यादि अयोगी भी मृत्युकाल को जान सकते हैं, परन्तु ये साधारण ज्ञात कर सकते हैं, सो भी कुछ संशययुक्त, परन्तु योगी विशेष और निःसंशय ज्ञान कर लेता है॥ अब सातवीं विभूति कहते हैं:-

१२९-मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २२ ॥

मैत्री आदिकों में (संयम करने से) बल हो जाते हैं॥

सूत्र (३३) में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा; ये चार भावना कहीं हैं इन में अन्त की उपेक्षा में संयम नहीं हो सकता क्योंकि पापियों में योगी उपेक्षा करके मैत्री आदि नहीं करता, उन में धारणादि संयम भी नहीं करता, इससे उपेक्षा का यहां आदि शब्द से ग्रहण नहीं समझना चाहिये, शेष पहली तीनों भावनाओं में संयम करने से योगी को मैत्री, करुणा, मुदिता का बल प्राप्त होता है॥

आठवीं विभूति आगे कहते हैं:—

१३९-बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २३ ॥

बलों में (संयम करने से) हाथी आदि के से बल हो जाते हैं॥

जब योगी हस्ति के बल, सिंह के बल, अश्व के बल, इत्यादि बलों में धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम साक्षात्कारपर्यन्त करता है, तो जिसके बल में संयम करता हैं उस हस्ति आदि का बल खिंच कर योगी में आजाता है॥

लोग आश्चर्य करेंगे कि यह कैसे संभव है परन्तु जानना चाहिये कि बल जोकि ओज नाम के ८ वें धातु से सम्बन्ध रखता है वह कोई स्थूल पदार्थ नहीं है किन्तु ओज धातु ही प्रथम तो सूक्ष्म पदार्थ है, फिर तदाश्रित बल और भी सूक्ष्म है। यदि बल स्थूल पदार्थ होता तो पतले मनुष्यों में सदा न्यून बल होता और मोटों में अधिक, परन्तु देखा जाता है कि प्रायः मोटों में बल न्यून और दुर्बलों में भी प्रायः अधिक बल होता है। बल तो प्राण के समान सूक्ष्म पदार्थ ओज पर निर्भर है. ओज की बृद्धि वीर्य और प्राण की अधिकता और बलिष्ठता पर है, बस ब्रह्मचर्य से वीर्य-लाभ करके जब योगी अपने मनोरूप विद्युत् को संयम की रीति से हाथी आदि के

बल से मिलाता है तो जैसे संयमी विद्यार्थी गुरुगत विद्या को अपने में भर लेता है वा दूसरे दीपक से ज्योति पाकर पहला दीपक तत्तुल्य जल उठता है, इसी प्रकार योगी भी संयम द्वारा हस्तिबलादि बलों को प्राप्त कर लेता है । देखिये संयमपूर्वक गायत्री मन्त्रादि के जप से बुद्धि कितनी बढ़ जाती है । बस ऐसे ही बल का बढ़ना भी श्रद्धेय है ॥

९ वां विभूति का अगला सूत्र बताता है:—

१३०–प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २४ ॥

प्रवृत्ति के प्रकाश को (सूक्ष्मादि में) रखने से सूक्ष्म, व्यवहित और दूर का ज्ञान हो जाता है ॥

(३६) वें सूत्र प्रथम पाद में जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही थी उस मनोवृत्ति (प्रवृत्ति) के आलोक (प्रकाश वा रोशनी) को जब सूक्ष्म पदार्थ पर संयम करके योगी न्यास करे (क़ायम करे) तब सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान हो जाता है । जैसे प्रकृति वा परमाणु । इसी प्रकार व्यवहित=जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ की ओलट वा परदे वा आड़ में हो उस में प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से उसका ज्ञान हो जाता है ऐसे ही दूरस्थ पदार्थ का । इस में इतना आवश्यक है कि वह सूक्ष्म वा व्यवहित वा दूरस्थ पदार्थ शब्दप्रमाणादि किसी प्रमाण से सामान्यतया जाना हो तब उस में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश रखने से उन का विशेष ज्ञान होगा । यदि कुछ भी ज्ञात न हो तो योगी प्रवृत्ति के प्रकाश को संयमपूर्वक किस में रक्खे ?

अब १० वीं विभूति कहते हैं —

१३१–भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २५ ॥

सूर्य से संयम से भुवन का ज्ञान हो जाता है ॥

११ वीं विभूति यह है कि:—

१३२–चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २६ ॥

चन्द्र में (संयम से) ताराओं के व्यूह (क्रमन्यास) का ज्ञान हो जाता है ॥

१२ वीं विभूति यह है कि:—

१३३–ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २७ ॥

ध्रुव में (संयम से) उन (ताराओं) की गति का ज्ञान हो जाता है ॥

सूर्य चन्द्र और ध्रुव शब्द से कोई तो देहस्थ सुषुम्णा जैसी नाड़ियों का ग्रहण करते हैं, कोई लोकान्तरों का ग्रहण करते हैं, परन्तु सूत्र (१३०) में भी योगी के शरीरस्थ आन्तरिक प्रवृत्त्यालोक का ग्रहण था और इन ३ तीन सूत्रों के अनन्तर आगे (१३४) सूत्र में भी नाभिचक्र का ग्रहण है इस से आचार्य का तात्पर्य कदाचित्

आन्तरिक सूर्य चन्द्रादि से ही हो, परन्तु जहां तक जाना सुना है यह देह भी वाह्य ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा चित्र है। नदी, पर्वत, समुद्र, वृक्ष, लता, वल्ली, सूर्य, चन्द्र, तारा, ध्रुवादि के समान इस देह में भी नाड़ी, अस्थिसमूह, मसाना, रोम, केश, आंख आदि उनके चित्र वा नक़्शे हैं इस लिये सम्भव है कि भोजवृत्ति आदि के मतानुसार देहस्थ सूर्यादि में सँयम करते २ योगी को बाह्य सूर्यादि में संयम करना आजावे तो बाह्य जगत का उस से ज्ञान होजावे ॥

"भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" २५ सूत्र के व्यासभाष्य में लोक लोकान्तर द्वीप द्वीपान्तरादि का विस्तार जो लिखा है, वह वर्त्तमानकालिक प्रत्यक्ष के कई जगह विरुद्ध है। कदाचित् प० रुद्रदत्त जी के लेखानुसार व्यासभाष्य की समाप्ति संगृह श्लोक से पूर्व "इति" शब्द पर ही हो और यह आगे का पाठ पौराणिक मत से बढ़ाया गया हो, क्योंकि गोलाध्यादि ज्योतिष ग्रन्थों से भी यह विपरीत है तथा प्रत्यक्ष से भी। तब ऐसा लेख व्यास जी कृत हो, यह मानने को जी नहीं चाहता ॥

१३ वीं विभूति आगे कहते हैं:—

१३४–नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

नाभिचक्र में (संयम) देह के व्यूह (बनावट वा कान्स्टीट्यूशन) का ज्ञान होजाता है ॥

नाभिचक्र देह का बीच है और जैसे रथ चक्र (पहिये) की नाभि में आरे जुड़े रहते हैं वैसे ही मनुष्यों के अवयवों का केन्द्र नाभिचक्र है, इस लिये उसमें संयम करने से देह की विशेष बनावट जिन बात, पित्त, कफ ३ दोषों से तथा १ त्वचा २ चर्म ३ मांस, ४ स्नायु ५ अस्थि, ६ मज्जा और ७ शुक्र इन ७ धातुओं से बनी है, उसके रचना विशेष में जिस २ धातु वा दोष का जहां २ जैसा २ सन्निवेश विधाता ने किया है, उस २ का यथार्थ ज्ञान होजाता है ॥

१४ वीं विभूति अगले सूत्र में कही गई हैं:—

१३५–कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ २९ ॥

कण्ठकूप में (संयम से) भूख प्यास की निवृत्ति होजाती है ॥

जिह्वा से नीचे सूत सी नाड़ी का नाम तन्तु है, तन्तु से नीचे का देश कण्ठ कहाता है और कण्ठ से नीचे जो सूराख छिद्र वा गढ्ढा है वह कण्ठकूप कहाता है, इस कण्ठकूप में प्राण को भूख प्यास लगा करती है इस लिये कण्ठकूप में धारणादि संयम के बल से प्राण को रोक देने से भूख प्यास नहीं लगती। भूख प्यास न लगने का तात्पर्य यह नहीं कि भूख प्यास कभी लगे ही नहीं, जितने काल तक संयम करेगा उतने काल तक भूख प्यास न सतावेगी। जैसे अन्न जल द्वारा भूख प्यास की निवृत्ति अनन्त काल को नहीं ऐसे ही इस विधान द्वारा भूख प्यास की निवृत्ति भी अनन्त काल तक नहीं जानना ॥

१५ वीं विभूति यह है कि:—

१३६–कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३० ॥

कूर्म नाड़ी में (संयम से) स्थिरता होती है ॥

कण्ठकूप के नीचे कूर्म नाड़ी जो कछुवे के आकार वाली नाड़ी (नली) है, उस में संयम करने से योगी स्थिर शान्त होजाता है कि जैसे कछुवा अपने अङ्गों की चेष्टा रोक कर शान्त बैठ जाता है ॥ १६ वीं विभूति आगे कहते हैं—

१३७–मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३१ ॥

मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से) सिद्धों का दर्शन होता है ॥

मूर्धा में हृदय से ज्ञान का प्रकाश रहता है, उससे वह ज्योर्मिय मूर्धा समझा जाता है जब योगी उसमें धारणादि संयम करता है तो उसको सिद्धों का दर्शन होताहै, सिद्धों का अर्थ योगसूत्र वैदिकवृत्ति में योगी जो सिद्धियां पाकर सिद्ध कहाते हैं लिखा है, उनका दर्शन भाषणादि अन्यों को दुर्लभ है पर इस योग्यता के पुरुष को जोकि मूर्धज्योति में संयम करे, वे दर्शन देते हैं। व्यास भाष्य में सिद्धों को द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच (अन्तरिक्ष) में विचरने वाला कहा है। उनका तात्पर्य देवयोनि विशेष से ज्ञात होता है। भोजवृत्ति में भी वही अर्थ है ॥

१७ वीं विभूति :—

१३८–प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३२ ॥

अथवा प्रातिभ (ज्ञान) से सब (ज्ञान हो जाता है)।

पूर्वोक्त संयमों के अतिरिक्त दूसरा पक्ष सूत्रकार यह कहते हैं कि–अथवा प्रातिभ संयमसे सब सिद्धि हो सकती है। प्रतिभा उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी निमित्त से उत्पन्न (नैमित्तिक) नहीं, किन्तु नैसर्गिक वा स्वाभाविक ज्ञान है। जब योगी उस प्रतिभा (स्वाभाविक ज्ञान) में संयम करता है तो पूर्वोक्त सोलहों सिद्धि वा विभूति प्राप्त होजाती हैं। कोई लोग मूर्धा में एक तारा मानते हैं, वे उस तारे को प्रतिभा का अधिष्ठान मान कर यह अर्थ करते हैं कि उस तारे में संयम करने से सर्व ज्ञान होकर योगी सर्वज्ञ हो जाता है ॥

सिद्ध योगी की सर्वज्ञता और परमेश्वर की सर्वज्ञता में यह अन्तर अवश्य रहता है कि योगी जब जिस पदार्थ को जानना चाहे तब उस पदार्थ को जान लेता है इसलिये सर्वज्ञ है, परन्तु परमेश्वर सर्वत्र व्यापक होने से बिना ही संयम के सदा सबको जानता ही रहता है इसलिये सर्वज्ञ है ॥ १८ वीं विभूति यह है कि :—

१३९–हृदये चित्तसंवित् ॥ ३३ ॥

हृदय में (संयम करने से) चित्त का साक्षात्कार हो जाता है।

हृदय एक कमलाकार अधोमुख पिण्ड है, उसीमें चित्त का निवास है, इसलिये हृदय (कलेजे) में संयम करने से उसमें स्थित चित्त साक्षात् ज्ञात हो जाता है ॥

१६ वीं विभूति :—

१४०–सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ताऽसङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३४ ॥

बुद्धिसत्व और पुरुष जो अत्यन्त भिन्न हैं, उन दोनों में अभेद (एकसा) प्रत्यय भोग कहाता है, इस भोग के परार्थ होने से, स्वार्थ संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है ॥

पुरुष इधर उधर सब पदार्थों के जानने का यत्न करता है और शक्ति भर जानता भी है परन्तु पुरुष अपने आपे को नहीं जानता कि मैं कौन हूं ? इस का कारण यह है कि भोग समय में पुरुष और बुद्धि दोनों एक भान होते हैं, इस लिये बुद्धि से पुरुष भिन्न नहीं ज्ञात होता पर वास्तव में सत्व=बुद्धि और पुरुष=जीवात्मा अत्यन्त असङ्कीर्ण=बेमेल=भिन्न हैं, बुद्धि जड़, पुरुष, चेतन। बुद्धि परिणामिनी (मुतग़ैयर) और पुरुष अपरिणामी (स्वरूप से न बदलने वाला)। बुद्धि प्राकृत, पुरुष अप्राकृत। इत्यादि प्रकार से बुद्धि और पुरुष अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। इन दोनों में एकसा भाव प्रतीत करना ही सांसारिक भोग है। वास्तव में केवल जीवात्मा=पुरुष में भोग सम्भव नहीं, देखो सांख्य सूत्र (असङ्गोऽयं पुरुष इति) जब इस भोग को परार्थ होने से योगी त्यागता है और स्वार्थ=जिसमें अपना आपा ही अर्थ (विषय) हो, ऐसा संयम करता है तब इसको अपने स्वरूप=जीवात्मा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान बुद्धि से नहीं होता, किन्तु आत्मा ही से आत्मा का बोध होता है। व्यास भाष्य में अन्यत्र का वाक्य उद्धृत किया है कि " विज्ञातारमरे केन विजानीयात् " अर्थात् घट पटादि ज्ञेय पदार्थों को चक्षुरादि साधनों से जान सकते हैं; पर अरे ! जानने वाले (आत्मा) को किस से जाने, वहां कोई साधन काम नहीं देता, केवल आत्मा ही आत्मा का (अपना) अनुभव करता है ॥

व्यास भाष्यानुकूल तो यही पाठ है, पर अन्यों के मत से इस सूत्र के पाठों में बहुत भेद है। यथा–कहीं " परार्थात् " कहीं " परार्थान्यस्वार्थसंयमात् " कहीं " परार्थ्यात् " इत्यादि ॥ २० वीं विभूति :—

१४१–ततः प्रातिभ श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते ॥३५॥

तब प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता (ये ६ सिद्धियां) हो जाती हैं ॥

पुरुष ज्ञान से १–प्रातिभ=दूर तथा व्यवहित का ज्ञान, २–श्रावण=दिव्य

शब्द सुनने की शक्ति, ३-वेदना = दिव्यस्पर्श ग्रहणशक्ति, ४-आदर्श = दिव्यरूप गृहण शक्ति, ५-आस्वाद = दिव्यरस गृहण शक्ति और ६-वार्त्ता = दिव्य गन्ध गृहण शक्ति हो जाती हैं। इस दशा में योगी बिना पांचों स्थूल विषयों के भी सूक्ष्म दिव्य पांचों विषयों का गृहण करने लगता है॥

१४२-ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३६ ॥

वे समाधि में विघ्न हैं और व्युत्थान में सिद्धियें हैं।

योगी को समाधि के लिये तो ये छहों सिद्धि नहीं किन्तु विघ्न हैं इन में अटक कर समाधि से वञ्चित रह जायगा, इस लिये दिव्य दर्शनादि चमत्कारों में मुग्ध न हो जाना चाहिये, प्रत्युत इन दिव्यदर्शनादि को भी त्यागना चाहिये परन्तु व्युत्थान (समाधि से जाग) होने पर ये छहों सिद्धियें जानों॥

यहां तक संयम द्वारा सधने वाली ज्ञान विभूतियें कहीं, अब क्रिया द्वारा सधने वाली विभूति कहते हैं:—

१४३-बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३७ ॥

चित्त के बन्धन का कारण शिथिल होने और प्रचार = मार्ग का भेद खुल जाने से पर शरीर में प्रवेश हो सकता है॥

चित्त व्यापक होकर भी जो एक शरीर में बन्धा है उसका कारण कर्मबन्धन है, जब समाधि से कर्म बन्धन ढीला हो जाता है और चित्त के चलने की नाड़ी (मार्ग) ज्ञात हो जाती है तो योगी अपने चित्त को परशरीर में प्रवेश करा सकता है और फिर रानी मक्खी के पीछे जैसे मुहाल की अन्य मक्खियें उड़ जाती हैं वा उड़ आती हैं वैसे चित्त के साथ इन्द्रियां भी परशरीर में चली जाती हैं और चित्त की आज्ञा का पालन इसी शरीर के समान करने लगती हैं॥ २१ वीं विभूतिः—

१४४-उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसंगउत्क्रान्तिश्च ॥ ३८ ॥

उदान (वायु विशेष) के जीतने से जल, कीचड़, और झाड़ कांटे आदि में फंसना और उत्क्रान्ति (स्वेच्छानुसार शरीरत्याग) होता है॥

प्राण अपान ' उदान ' समान और व्यान इन पांच वायुओं में जो प्राण के ही भेद हैं, तीसरा ' उदान ' है, यह कण्ठदेशस्थ प्राण भेद है, संयम द्वारा जब योगी इस ' उदान ' वायु को जीत कर वश्य कर लेता है तब ऊपर को उछलने की शक्ति बढ़ जाने से जल, कीचड़, कांटे, दलदल आदि में जैसे अन्य साधारणों को निकलना कठिन होता है, वैसा उदानजयी योगी का नहीं, वह सहज ही में इन जलादि से निकल जा सकता है तथा देह त्याग समय में नीचे के छिद्रों द्वारा नहीं निकलता

किन्तु उत्क्रान्ति सिद्ध होने से ऊर्ध्व छिद्रों द्वारा देह छोड़ना और ऊर्ध्व उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥

अब २२ वीं विभूति को अगला सूत्र बताता है :—

१४५—समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३९ ॥

समान (वायु) के जय से तेजस्वी हो जाता है ॥

ऊपर कहे पाँच वायु भेदों में चौथा 'समान' नामक प्राण वायु भेद है; वह नाभि में स्थित है जब योग संयम द्वारा उस को जीत कर वश में कर लेता है तौ योगी का देह अग्नि के समान तेज से दहकने लगता है ॥

अब २३ वीं विभूति सुनिये :—

१४६—श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४० ॥

श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश तत्व के संबन्ध में संयम करने से दिव्य शब्द श्रवण शक्ति हो जाती है ॥

श्रोत्रेन्द्रिय का कारण तत्व आकाश है, इस लिये जब योगी श्रोत्र (कान) और आकाश, तत्व के कार्य कारण भाव सम्बन्ध को संयम द्वारा साक्षात् करके कान की बनावट का पूरा जानकार बन जाता है तौ जो आकाश में भरे दिव्य शब्द अन्यों को नहीं सुनाई देते उन्हें वह योगी सुन सकता है।

ऐसे ही त्वचा और वायु के सम्बन्ध में संयम से दिव्यस्पर्श, चक्षु और अग्नि के सम्बन्ध में संयम से दिव्य दृष्टि रसना, और जल के सम्बन्ध में संयम से दिव्य-स्वादु और नासिका, तथा पृथवी तत्व के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्यगन्ध की प्राप्ति होनी जानिये, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश में जैसे कार्य कारण सम्बन्ध है, वैसे ही त्वचा और वायु तत्वादि में भी है ॥

अब २४ वीं विभूति बताते हैं :—

१४७—कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४१ ॥

देह और आकाश (अवकाश) के सम्बन्ध में संयम से और लघु (हलके) तूल (रुई के फोये) में समापत्ति (संयम द्वारा चित्त की तदाकारता) से आकाश में गमन (सिद्ध होता) है ॥

यह देह आकाश में ही रहता और जाता आता भी है, इसलिये देह का आकाश (अवकाश) से व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। जब योगी इस सम्बन्ध में संयम करता है और जब हलके रुईके फोये आदि पदार्थों में संयम करके चित्तको तदाकार कर देता है, तब हलका होकर जल के ऊपर भूमिवत् चलता और मकड़ी के जाले तक के सहारे चल सकता और सूर्य की किरणों तक पर चल कर आकाश में यथेष्ट विचर सकता है। यह व्यास भाष्य का मत है ॥

अब २५ वीं विभूति का वर्णन करते हैं :—

१४८—बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततःप्रकाशाऽऽवरणक्षयः।४२।

बाहर अकल्पित वृत्ति महा विदेहा कहाती है, उस से प्रकाश के आवरणों का क्षय हो जाता है।

जब इस कल्पना से मनोवृत्ति को बाहर किया जावे कि "मेरी चित्त वृत्ति बाहर हो" तब यह वृत्ति कल्पिता कहाती है, परन्तु जब बिना ही सङ्कल्प के वृत्ति देह से बाहर स्वभावतः ही रहने लगे तब यह वृत्ति अकल्पिता महाविदेहा (देहाऽभिमान शून्या) कहाती है, इस वृत्ति से प्रकाश (बुद्धिसत्व) के आवरण (रजोगुण, तमोगुण मूलक) क्लेश कर्म विपाकत्रय का क्षय (नाश) हो जाता है। क्योंकि क्लेश कर्मादि का साधन मन है, जब मन का देह से बाहर निकाल देना योगी को सँकल्प से नहीं किन्तु स्वभाव से ही सिद्ध हो जावे तो फिर उसे क्लेश कर्मादि कैसे बाध सकते हैं॥

२६ वीं विभूति को अगला सूत्र कहता है :—

१४९—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४३ ॥

(पृथिव्यादि महाभूतों के) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय, और अर्थवत्व में संयम करने से (महा) भूत जीते जाते हैं।

पृथिवी के जैसे स्थूलादि ५ भेद हैं वैसे जलादि के भी ५-५ भेद हैं। इस प्रकार ५ महाभूतों के ५। ५ स्थूलादि भेद होकर २५ भेद हैं।

१-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धयुक्त पृथिवी "स्थूल" है। २-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, युक्त जल "स्थूल" है। ३-शब्द स्पर्श, रूप युक्त अग्नि "स्थूल" है। ४-शब्द स्पर्शयुक्त वायु "स्थूल" है, और ५-शब्द युक्त आकाश "स्थूल" है। ये पृथिव्यादि पांचों महाभूतों के पांच पांच "स्थूल" रूप हुवे। इसी प्रकार १-काठिन्ययुक्त पृथिवी का "स्वरूप" है, २-स्नेह = चिकनाई = गीलापन जल का "स्वरूप" है. ३-उष्णता (गर्मी) अग्नि का "स्वरूप" है, ४-गति वायु का "स्वरूप" है और ५-अनावरण (न रुकना) आकाश का "स्वरूप" है। इस प्रकार पांचों के ५ पांच "स्वरूप" रूप हुवे। इसी प्रकार १-पृथिवी की गन्ध तन्मात्रा २-जल की रस तन्मात्रा ३-अग्नि की रूप तन्मात्रा, ४-वायु की स्पर्श तन्मात्रा, और ५-आकाश का शब्द तन्मात्रा रूप "सूक्ष्म" रूप हैं। ये पांचों के पांच "सूक्ष्म" रूप हुवे। अब अन्वय रूप भी ५ हैं। ३-जैसे-१ सत्व, रज, तम, भेद से त्रिगुणान्वयिनी पृथिवी, २-त्रिगुणान्वयी जल त्रिगुणान्वयी तेज, ४-त्रिगुणान्वयी वायु और ५-त्रिगुणान्वयी ही आकाश। इस भांति पांचों के पांच ५ "अन्वय" रूप हुवे। इसी प्रकार पांचों के भोग मोक्षाऽर्थवान होना "अर्थवत्व" रूप हैं। इस रीति से पांचों महाभूतों के २५ पच्चीसों रूपों में ध्यान, धारणा, समाधि रूप संयम से योगी पञ्च महाभूतों को जीत कर वश में कर लेता है और फिर इन से यथेष्ट काम सिद्ध करता है॥

अब २७ वीं से ३४ वीं तक अणिमादि आठ और ३५ वीं कायसंपत तथा ३६ वीं तद्धर्मानभिघात विभूतियां कही जाती हैं :—

१५०—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४४॥

अब अणिमादि का प्रादुर्भाव और देह की सम्पदा (ऐश्वर्य) और उन (५ भूतों) के धर्मों से चोट न लगना होता है ॥

भूतजयनाम ४३ वें सूत्रमें कही सिद्धि का अनन्तर फल रूप ये ८ आठ विभूतियां और होती हैं। १—अणिमा—देह को सूक्ष्म कर सकना। २—लगिमा-देह को बोझ में हलका कर सकना। ३-महिमा देह को फैलाव में बड़ा कर सकना। ४—प्राप्त-इष्ट पदार्थ को समीप प्राप्त कर सकना। ये चार ४ सिद्धि वा विभूतियां पांच पांच महा-भूतों के " स्थूल " रूप में संयम से उत्पन्न होती हैं। ५ प्राकाम्य-इच्छा का पूरा होना, उसमें रुकावट न होना। यह " स्वरूप " संयम का फल है। ६ वशित्व महाभूतों और पाञ्चभौतिक प्राणियों का वश में कर सकना। यह "सूक्ष्म" रूप में संयम का फल है। ७—ईशितृत्व-भूत भौतिक पदार्थों को उत्पन्न और नष्ट कर सकना यह व्यास भाष्य का मत है। भोजवृत्ति में देह और अन्तःकरण को अधिकार में कर लेना = ईशितृत्व कहा है। यह " अन्वय " संयम का फल है। ८ यत्र कामावसायित्व जो संकल्प करे सो पूरा हो " यह अर्थवत्व " संयम का फल है और भोजवृत्ति में ६ वीं गरिमा—भारी हो सकना नाम की भी विभूति बताई है। " कायसंपत " का ब्यौरा ४५ वें सूत्र में है। पृथिवी आदि भूतों के कठिनता आदि का योगी के कामों में विघ्न न कर सकना " तद्धर्मा-ऽनभिघात " की विभूति है ॥

अब ३५ वीं विभूति जो ४४ वें सूत्र में " कायसंपत् " कही थी, उसका स्पष्ट वर्णन अगले सूत्र में करते हैं :—

१५१—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४५ ॥

रूप लावण्य और वज्रसंहननत्व का नाम कायसंपत है।

देखने में मुखाकृति का उत्तम होना " रूप " और सर्वाङ्गसुन्दर होना 'लावण्य' और वज्र (हीरा आदि) के तुल्य शरीरावयवों का दृढ़ (मज़बूत) होना वज्र संहन-नत्व कहाता है। ये तीनों मिल कर कायसंपत् = देहैश्वर्य कहाती हैं।

अब तक ग्राह्य पदार्थों के संयम की सिद्धियां (विभूतियां) कहीं, आगे ग्रहण साधनों के संयम की सिद्धियां निरूपण करते हुवे कहते हैं कि :—

१५२—ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्व-संयमादिन्द्रियजयः ॥ ४६ ॥

१ ग्रहण, २ स्वरूप, ३ अस्मिता, ४ अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रिय जीते जाते हैं ॥

जिस प्रकार (१४६) में पञ्चमहाभूतों के ५। ५ स्थूलादि भेद करके २५ भेद कहे थे, इसी प्रकार यहां पांचों इन्द्रियों के "ग्रहण" आदि '५, ५ भेद करके २५ भेद कहे जानो। उनमें से चक्षुरादि इन्द्रियों की देखना आदि वृत्तियें = १-गृहण, गोलकादि बनावट जो स्थूल है = २-स्वरूप, उनके कारण सात्विक अहङ्कार = ३-अस्मिता, उस अहङ्कार के साथ लगे हुवे ३ गुण = ४-अन्वय, और उन ३ गुणों के साथ लगे भोग-मोक्षार्थबालापन = अर्थवत्व कहाते हैं। इनमें सँयम करने से इन्द्रिय वश में होजाते हैं ॥

अब इन्द्रिय वश्य होने का फल कहते हैं। ये ३७ से ३६ तक तीन विभूतियें " मधुप्रतीका " कहाती हैं। यथाः—

१५३—ततोमनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४७ ॥

तब १-मनोवेग होना, २-विकरण होना और ३-प्रकृति को जीतना होता है।

मन के समान देह में वेग अर्थात् शीघ्रगामित्व को १-मनोजवित्व कहते हैं। देह से बाहर इन्द्रियों को भेज सकना, २-विकरणभाव और प्रकृति के समस्त कार्य पदार्थों को स्वाधीन कर लेना ३ प्रधानजय है। ये ३ सिद्धि वा विभूति मिल कर " मधुप्रतीका " इसलिये कहाती हैं कि जैसे शहद के एक देशमें भी सर्वदेश के समान स्वाद आता है वैसे इन में सर्वत्र सब इन्द्रियों से स्वाद लेने की शक्ति हो जाती है। "गृहण" में संयम का फल = मनोजवित्व, " स्वरूप " में सँयम का फल = विकरणभाव और " अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व " में संयम का फल = प्रधानजय है ॥

गृाह्य पदार्थों के संयम का फल कह कर, आगे गृहीताओं में सँयम का फल कहते हैं:—

१५४—सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्त्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

सत्व और पुरुष के भेदज्ञान का (फल) सर्व भावों का अधिष्ठाता होना और सर्वज्ञ होना है ॥

जब योगी (१४०) के अनुसार सत्व (बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) के भेद को जान लेता है और चेतन आत्मा का अभ्यास बुद्धि में नहीं रखता, जैसा कि इतर साधारणजन रखते हैं, तो वह किसी की अधीनता में न रह कर सबको अपने अधीन कर सकता है और उसके लिये कोई पदार्थ नहीं रहता जिसे वह न जान सके। परमेश्वर की सर्वज्ञता और इस योगी की सर्वज्ञता में जो भेद है वह हम सूत्र (१३८) के व्याख्यान में बता चुके हैं। इन दोनों विभूतियों को " विशोका " इस

लिये कहते हैं कि इनके प्राप्त कर लेने वाले योगी का शोक दूर हो जाता है। मनुष्य को शोक ३ कारणों से होता है १-अनिष्ट की प्राप्ति २ इष्ट की अप्राप्ति और ३ ज्ञातव्य का न जान सकना। जब योगी किसी के अधीन न रहा स्वतन्त्र हो गया तौ उसको अनिष्ट नहीं मिलेगा और इष्ट अप्राप्य न रहेगा और जब सर्वज्ञ हो गया तौ उसको कुछ भी अज्ञेय न रहा। ये गृहीता (पुरुष) में संयम का फल ४० वीं और ४१ वीं दो विभूतियां कही गईं। अब ४२ वीं विभूति बताते हैं:—

१५५—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ४९ ॥

जब उसमें भी वैराग्य से दोषों के बीज का क्षय हो जावे तब कैवल्य (मुक्ति) हो जाती है।

यहां योगी की जीवन्मुक्ति है। जब पूर्व सूत्रानुसार सर्वाधिष्ठाता और सर्वज्ञ होकर सबको जान लेता और प्राप्त कर लेता है तब उस२ पदार्थ के दोषों को भी जान लेता है। दोषों को देख कर उनसे ग्लानि करता है और उन्हें त्याग देता है, यह उनसे वैराग्य हुवा, इस वैराग्य से दोषों के बीज (संस्कार) भी क्षीण (अत्यन्त निर्बल= संसारमें जमने को असमर्थ) हो जाते हैं, ऐसा होनेपर वह दोषों और उनके संस्कारों से रहित हुवा मुक्त (केवली) हो जाता है। केवल का अर्थ अकेला है, जिस में बुद्धि आदि समस्त जड़ हेय (त्याज्य) पदार्थों को छोड़ कर केवल आत्मा ही परमात्माके आनन्द का अनुभव करता है। परन्तु केवली को भी परमात्मा का त्याग असम्भव है क्योंकि वह सर्वत्र है; उसे छोड़ कर कहां जाय। तथा परमात्मा का त्याग योगी चाहता भी नहीं क्योंकि वह प्राकृत पदार्थों में रमण करके उनका सताया और थका हुवा आत्मा परमात्मा के असीम आनन्द को त्याज्य कैसे जाने? वही तौ इसकी परम प्यारी वस्तु थी जिसे आज पा गया। उसको त्यागना चाहता भी नहीं और त्याग सकता भी नहीं ॥

अब योगी के विघ्न और उससे बचने के उपाय कहते हैं:—

१५६—स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५० ॥

फिर अनिष्ट न लग जावे इस (भय) से स्थानियों के प्रार्थनापूर्वक निमन्त्रण में सङ्ग और स्मय न करना चाहिये ॥

चार प्रकार के योगी हैं १-वह जो परिचित्तादि ज्ञान को नहीं पाया केवल अभ्यास ही कर रहा है सवितर्क समाधि वाला है, उसको तौ अयोग्य जान कर देवता (दिव्य विषय भोगी गृहस्थ लोग) बहुत आदर सत्कार करते ही नहीं। २-वह है जो निर्वितर्का समाधि द्वारा मधुमती ऋतंभरा प्रज्ञा भूमि को पाकर (देखो सूत्र ४८ का पूर्वाऽपर प्रकरण) पञ्चभूतों और इन्द्रियों को जीतने की इच्छा करने वाला है। इसी को आदर सत्कार पूर्वक देवता लोग निमन्त्रण देते हैं कि आइये, यहां सब सुख

भोग की सामग्री उपस्थित है यहां आनन्द कीजिये, यह भोग बड़ा कमनीय है, यह कन्या बड़ी चाहने योग्य है, यह रसायन औषध है जिस से बुढ़ापा वा मौत हटती हैं, यह आकाश विमान है, यह कल्प वृक्ष है, यह पवित्र मन्दाकिनी नदी हैं, ये सिद्ध महर्षि लोग हैं, ये उत्तम अनुकूल चलने वाली अप्सरा हैं, ये दिव्य आंख कान हैं, यहां वज्र समान दृढ़ शरीर है, हे आयुष्मान ! अपने अपने गुणों से यह सब कमाया है इस लिये इस देवतों के स्थान स्वर्ग को प्राप्त होकर भोगिये, इत्यादि व्यासभाष्य में लिखे भोगों का निमन्त्रण पाने पर योगी को सावधान होकर जानना चाहिये कि इन भोगों से " सङ्ग " न करूं, नहीं तो ये फिर लग जायंगे । घोर संसार के अङ्गारों में झुलसते हुवे मैंने जन्ममरणरूप अन्धकार में पड़े २ जैसे तैसे यह क्लेश अन्धकार का नाशक योग का दीपक पाया है उस दीपक को ये तृष्णा से उत्पन्न विषयरूप वायु के झकोले बुझा देंगे तो भला मैं इस विषय मृगतृष्णा से ठगाया हुवा जान बूझ कर अपने आपे को इस प्रचण्ड संसार की अग्नि का इन्धन बनादूं । ऐसा विचार कर कहदे कि यह स्वप्नसमान भोग आपको ही (मुबारिक) मङ्गलदायक रहो ! मुझे क्षमा कीजिये । इस प्रकार उनका सङ्ग न करे और स्मय भी न करे । स्मय गर्व को कहते हैं । गर्व भी न करे कि ओहो ! मैं इतना आदरणीय होगया कि देवता मुझे नौता देते हैं । क्योंकि ऐसा गर्व करने से अपने को कृतकृत्य समझ कर समाधि में उत्साह छोड़ कर प्रमाद से फिर उसी दुःख में पड़ जायगा । ३-वह है जो स्वार्थसंयम से विशोका और संस्कारशेषा को सिद्ध करता हुवा ५ भूतों और इन्द्रियों को जीत चुका है उसको जितेन्द्रिय होने से भोग और भोगी देवता खींच नहीं सकते । ४-वह है जिसने विशोका मधुप्रतीका और मधुमती इन तीनों भूमियों में वैराग्य करके त्याग दिया और जीवन्मुक्त होगया. इस को भी कोई भोग नहीं ललचा सकता । केवल द्वितीय कक्षा के योगीको ऊपर कहे विघ्नोंसे बचने का इस सूत्र में उपदेश है ॥

अब ४३ वीं विभूति विवेकज ज्ञान का वर्णन करते हैं:—

१५७–क्षणतत्क्रमयोःसंयमाद्विवेकज ज्ञानम् ॥ ५१ ॥

क्षण और क्षणों के क्रम में संयम करने से विवेकज ज्ञान होता है ॥

जैसे परमाणु सबसे छोटा वस्तु न्याय शास्त्र में माना है, काल का सब से छोटा भाग जिस के फिर भाग न हो सकें उन को यहां योगशास्त्र में क्षण माना है । एक क्षण के पश्चात् दूसरा क्षण फिर तीसरा इत्यादि परम्परा को क्षणों का क्रम (लगातार सिलसिला) कहते हैं सब पदार्थ (एक जीवात्मा और दूसरे परमात्मा इन दो चेतनों को छोड़ कर) क्षण २ में परिणामी (बदलने वाले) हैं, इस लिये जब योगी काल के सब से छोटे भाग क्षण और उन क्षणों के क्रम में धारणा ध्यान समाधि रूप संयम करता है तो क्षण और क्षणक्रम में बदलने वाले सब परिणामी पदार्थों को बदलता जान कर उस को आत्मा अनात्मा वा जड़ चेतन के विवेक से विवेकज ज्ञान हो जाता है । आगे उस विवेकज ज्ञान का फल कहते हैं:—

१५८—जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५२ ॥

जाति, लक्षण और देश से भिन्नता का निश्चय न कर सकने से दो तुल्य पदार्थों मेंभी विवेकज ज्ञान से भिन्नता का ज्ञान होजाता है।

हम लोग एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न समझने में जाति लक्षण और देश का सहारा लेते हैं। गौ और घोड़े में भेद का निश्चय जाति से होता है, दो गौवों में भेद का निश्चय कपिलत्वादि लक्षण से होता है और दोनों गौ कपिलत्वादि लक्षणों में भी तुल्य हों तौ देश (पूर्व पश्चिम आदि) से भेद की पहचान होती है। परन्तु जब साधारण जन जाति लक्षण और देश से भी पदार्थों की एक दूसरे से अन्यता (भिन्नता) को न जान सकें तब पूर्वोक्त विवेकजज्ञान से योगी यहां तक जान सकता है कि एक परमाणु से दूसरे परमाणु में भी क्या भिन्नता है॥

अब विवेकज ज्ञान का लक्षण बताते हैं:—

१५६--तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमऽक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५३ ॥

अपने आप उपजे हुवे सबको विषय करने वाले सब प्रकार से विषय करने वाले और क्रम निरपेक्ष ज्ञान को विवेकज ज्ञान कहते हैं।

विवेकज ज्ञान के चार लक्षण हैं। १-यह कि विना किसी से उपदेश पाये अपने आप जानना। २-यह कि सब पदार्थों को जान सकना यह नहीं कि किसी पदार्थ को जानना, किसी को न जानना, ३-यह कि सब प्रकार से जानना अर्थात् यह नहीं कि एक प्रकार से जानना पर दूसरे प्रकार से न जानना। ४-यह कि क्रम के विना भी जानना, यह नहीं कि एक पदार्थ को जान कर क्रम प्राप्त ही दूसरे को जान सकना प्रत्युत क्रम का उल्लङ्घन करके भी चाहे जब चाहे जिसको जानना॥

यद्यपि यहां प्रायः सभी भाष्य और टीका बनाने वाले जो ६। ७ हमने देखे हैं सबके सब " अक्रम " का अर्थ युगपत् ज्ञान=एक ही क्षण में सबको जानना करते हैं परन्तु हम नहीं समझते कि जब क्षण और क्षणों के क्रम में संयम का तौ यह फल है जिसको विवेकज ज्ञान कहते हैं। जिसमें इतना सूक्ष्म काल भेद भी क्रम क्रम से परिणामी (बदलने वाला) जाना जावे वह ज्ञान एक साथ सर्व विषय और सर्वथा विषय कैसे माना जावे। इसलिये हम तौ " अक्रमम् " का अर्थ यही समझते हैं कि जैसे साधारणों को लोक में देश क्रम, स्वरूप क्रम, अवस्थाक्रम से ज्ञान होता है, वैसा क्रम-बन्धन योगी को विवेकज ज्ञान होने पर नहीं रहता। वह चाहे जब चाहे जिस पदार्थ क्रम का उल्लङ्घन करके भी जान सकता है॥

यहां तक विभूति वा सिद्धियां कहीं, परन्तु योगी के इन सिद्धियों की प्राप्ति श्रद्धा बढ़ाने मात्र के लिये कही गई है वास्तव में तौ दुःख रहित मुक्ति पद पाना ही प्रत्येक मनुष्य के योग द्वारा इष्ट है इस लिये इन सब विभूतियों से वैराग्य करके इन सब उपायों से बुद्धि सत्व और आत्मा (पुरुष) के एकसा शुद्ध निर्मल करना चाहिये, सो आगे कहते हैं :—

१६०—सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५४ ॥

सत्व और पुरुष की शुद्धि समान होने पर कैवल्य (मोक्ष) होता है।

यद्यपि सत्व बुद्धि जड़ प्राकृत है और पुरुष चेतन अप्राकृत है, इन दोनों की शुद्धि में समता नहीं हो सकती, तथापि व्यासदेव कृत भाष्यादि ने यह माना है कि सत्व (बुद्धि) में जब अविद्या निवृत्त हुई तौ रागादि दोष दूर हुवे इन के दूर होते ही कर्म छुटे, कर्म के छुटने से जन्म छूटा, जन्म छूटने से दुःख छूटे दुःख दूर होने से मोक्ष हुवा। बस योगी की सत्व=बुद्धि इतनी निर्मल जब होगई तौ माने वह आत्मा के समान सी शुद्ध निर्मल होगई, जिसने रागादि संसार के हेतुओं के अपने में से निकाल दिया यही उस बुद्धि का आत्मा के समान शुद्ध निर्मल होना है। यहां कई टीकाकार सूत्र के अन्त में " इति " शब्द बढ़ा कर पाठ मानते और कहते हैं कि " इति " शब्द पाद समाप्ति की सूचनार्थ है परन्तु न तौ व्यास भाष्य में " इति " शब्द पाया जाता है न सब पुस्तकों में ही मिलता है और न प्रथम द्वितीय पाद के अन्तिम सूत्रों में कोई " इति " शब्द के मानता है, इस लिये हमने यहां " इति " शब्द नहीं माना।

इसी प्रकार इस तीसरे पाद में प्रथम योग के ३ तीन अन्तरङ्ग साधन ध्यान, धारणा और समाधि का वर्णन करके और उनकी संयम संज्ञा रख कर संयम का विषय दिखाने के तीन परिणामों का प्रतिपादन करके, संयम द्वारा ४३ सिद्धि वा विभूति बताई गईं और समाधि का अभ्यास उत्पन्न करने के लिये बाह्य और आभ्यन्तर भुवनज्ञान और कायव्यूह ज्ञानादि दिखला कर समाधि के उपयोगी इन्द्रिय जय और प्राणजयादि पूर्वक परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये क्रम से अवस्था सहित पञ्चभूत विजय, पञ्चेन्द्रिय विजय और सत्व विजय की व्याख्या करके विवेकज ज्ञान की सिद्धि के लिये उन २ उपायों के लिख कर तारकादि ४ लक्षण वाले विवेकज ज्ञान का लक्षण करके चित्त सत्व का अपने कारण में लय होकर पुरुष के समान शुद्ध हो जाने से आत्मा (पुरुष) के कवल्य प्राप्ति तक वर्णन किया गया॥

इति श्री तुलसीराम स्वामि कृत योगदर्शन भाषानुवादे
विभूति पादस्तृतीयः ॥३॥

* ओ३म् *

अथ कैवल्यपादः ॥४॥

१ । २ । ३ पादों में क्रम से योग, उसके साधन, और उसकी विभूतियें कह कर अब चतुर्थ पाद में इन तीनों पादों के वर्णित यत्न का फल जो मुक्ति है उसकी संज्ञा यहां कैवल्य है, सो वर्णन करेंगे। इस लिये प्रथम पांच प्रकार के सिद्ध चित्तों का वर्णन करते हैं :—

१६१—जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

१–जन्म, २–औषधि, ३–मन्त्र, ४–तपस् और ५–समाधि से उत्पन्न हुई ५–सिद्धियां हैं।

१–सिद्धि जन्म से उत्पन्न होती है, जैसे पक्षी आदि जन्म से आकाश में उड़ना आदि सिद्धि को प्राप्त हैं। २–सिद्धि औषधि खानेसे है, जिसके कायकल्प पर्यन्त अनेक भेदों का वर्णन वैद्यक शास्त्र का विषय है। ३–सिद्धि मन्त्र के जप से होती है जिसमें "तज्जपस्तदर्थभावनम्" योगदर्शन सूत्र २८, और "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" योगद० सूत्र ६५ के अनुसार सिद्धि होती हैं। तप से सिद्धि होती है, जिसका वर्णन "कायेन्द्रियसिद्धि" सूत्र ६४ में किया गया है। और ५ वीं सिद्धि समाधि से होती है, जिसका वर्णन समस्त विभूतिपाद में किया गया है॥

अब शङ्का यह है कि इन सिद्धियों में तौ पूर्व जाति के देह, इन्द्रिय, चित्तादि की अपेक्षा नये से देह इन्द्रिय और चित्त आदि बन जाते हैं सो केवल जन्मजा सिद्धि में तौ हो सकते हैं, परन्तु औषधिजा आदि ४ प्रकार की सिद्धियों में नये प्रकार के देहादि (जात्यन्तर परिणाम) की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उत्तरः—

१६२—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

प्रकृति के चारों ओर से आ भरने से जात्यन्तर को सा परिणाम होजाता है।

जन्म, औषध, मन्त्र, तप, और समाधि से जब सिद्धियें प्राप्त होती हैं तब पूर्व जाति (प्रकार) से विलक्षण दूसरी जाति के देहादि हो जाते हैं। जन्म से जाति बदलना (ज्यात्यन्तरपरिणाम) तौ सब को समझना सुगम है जोकि पुनर्जन्म को मानते हैं, परन्तु कितने ही पुनर्जन्मवादी भी एक और ही प्रकार का पुनर्जन्म मानते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य पुनर्जन्म में भी मनुष्य ही होगा। गौ फिर गौ होगी और घोड़ा आदि फिर भी घोड़ा आदि ही होंगे। ऐसे मानने वालों को और पुनर्जन्म न मानने वालों को और इसी जन्म में गुण कर्म स्वभाव नहीं बदलना मानने वालों को, इन सबको यह सूत्र उत्तर देकर कहता है कि जन्मान्तर से औषधि सेवन से, मन्त्र से तप से और समाधि से पूर्व प्रकार (जाति) के देहादि के उत्तर प्रकार (जाति)

के देहादिरूप जात्यन्तर परिणाम हो जाते हैं। प्रकृति के आपूर (सर्वतः भरने) से, यदि किसी की प्रकृति से चाहे वह कुछ ही खावे पीवे, कैसे ही रहे सहे दूसरी प्रकृति उसके देह में घुस कर विग्रह (विरोध) न करती और सदा अनुग्रह (अनुकूलता) ही करती तौ मिथ्या आहार विहार करने वाले रोगी क्यों होते ? किन्तु जैसे गरुड़ को सांप के भक्षण से भी अनुकूलता ही रहती है सांप का विष उस गरुड़ की प्रकृति पर अनुगृह ही करता है विगृह नहीं करता इसी प्रकार सबको सब प्रकार के आहार विहारादि से उनकी पूर्व प्रकृति पर दूसरी प्रकृतियों का अनुगृह ही होता, विगृह न होता तौ रोगी क्यों होते ? इससे सिद्ध होता है कि दूसरी प्रकृति के आपूर=भरने से पहिली प्रकृति में जात्यन्तर परिणाम पांच कारणों से होता है। १-जन्म से २-औषधि से, ३-मन्त्र से, ४-तप से और ५-समाधि से। देह की प्रकृति पञ्चभूत=पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश हैं। इन्द्रियों और अन्तःकरणों की प्रकृति अस्मिता है, उनका आपूर (भरना) यह है कि उस प्रकार के दूसरे अपूर्व अवयवों का उस देह में प्रवेश करना। औषधि सेवनादि वा आचार्य से पढ़ने आदि द्वारा देह और बुद्धि आदि बदल कर नये प्रकार के हो जाते हैं। एक मनुष्य का बच्चा किसी प्रकार भेड़ियों के भट्ट (बिल) में पाया गया और वह अनाथालय में लाया गया तौ वर्षों तक उसकी प्रकृति में भेड़ियों के सी बातें पाई गईं यहां तक कि वह मनुष्यों से छिप कर कोने में बैठता था, अन्य प्राणियों पर झपटता था, कच्चा मांस खाता और पक्वान्न की रुचि नहीं करता था। भेड़ियों की शिक्षा और उनमें उन्हों के सा आहार विहार करने से उसकी यह दशा होगई थी। जब पशुओं में रहने और उनके से आहार विहारादि से इतना जात्यन्तर परिणाम हो गया तौ प्रबल ज्ञान और यत्न पूर्वक अनुष्ठान किये औषधि सेवन, मन्त्र, जप, तपस्साधन और समाधि के अभ्यास से पूर्व प्रकृति में पर प्रकृति (प्राकृत अवयवों) के भरने से देह इन्द्रिय और चित्त की प्रकृति बदल कर जात्यन्तर परिणाम होना क्या असम्भव है ? गुण कर्म स्वभावानुसार ब्राह्मणादि वर्णों के व्यत्यय (बदलने) में भी इस सूत्र का उपयोग है॥

तौ क्या औषधि सेवनादि निमित्त प्रकृतियों के प्रेरक हैं ? कि वे बाहर से अन्य प्रकृतियों को खींच कर देह में प्रविष्ट करादें ? उत्तरः—

१६३—निमित्तमप्रयोजकम्प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः, क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

प्रकृतियों का प्रयोजक (प्रेरक) तौ निमित्त (ओषधि सेवनादि) नहीं है, परन्तु उस (ओषधि सेवनादि समाधि पर्यन्त) से वरण भेद अवश्य होता है, किसान के समान।

औषधि सेवनादि वा अध्ययनादि से प्रेरित होकर तौ अन्य प्रकृतियें प्रवेश नहीं करतीं, परन्तु इन औषधि सेवनादि उपायों से वरण (रुकावट) टूट जाती है। आवरण (रोक वा रुकावट) न रहने से बाह्य प्राकृत अवयव स्वभाव से उस देहादि में प्रवेश कर जाते हैं। जैसे किसान (कृषक) एक क्यारी में से दूसरी क्यारी में पानी लाना चाहता है तब पानी को प्रेरणा करके उलीचता तौ नहीं परन्तु बीच की बाड़ को तोड़ देता है, बस पानी स्वभाव से ही उस क्यारी में आकर भरने लगता है। ऐसे ही जन्मादि पांच प्रकार की सिद्धियों में अनुष्ठान के बल से नई प्रकृतियों को प्रेरणा मत हो परन्तु उन बाह्य प्रकृतियों के मार्ग में जो पूर्व प्रकृति ने रुकावट डाल रक्खी हैं, ये साधन उन रुकावटों का भेदन कर डालते हैं और तब अपने आप बाह्य प्रकृतियें भीतर घुस कर जात्यन्तर परिणाम को उत्पन्न कर देती हैं॥

१६४–निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मिता (अहन्तत्व) मात्र से निर्माणचित्तों को (उत्पन्न करता है)

योगी अस्मिता मात्र (केवल अहंतत्व, जो चित्तों का उपादान कारण है) से अनेक चित्तों को उत्पन्न कर लेता है॥ और तब—

१६५–प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

एक चित्त (उन) अनेक चित्तों का भिन्न २ प्रवृत्ति में प्रेरक होता है॥

अर्थात् (१६४) के अनुसार अहँतत्व से योगी अनेक चित्त उत्पन्न करके उन को अपने एक चित्तकृत प्रेरणा से भिन्न २ विषयों में प्रेरित करता है। जिस प्रकार पृथिवी खाद जल और वायु में रहे हुवे गेहूं उत्पन्न करने वाले त्रसरेणुओं से एक गेहूं का बीज अनेक बीजों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार वायुके साथ रमे हुवे अहंतत्व से योगी का चित्त अनेक अन्य चित्तों को उत्पन्न करके स्वयं उनका प्रेरक बन जाता है॥

१६ –तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन में से ध्यानोत्पन्न (चित्त) आशय रहित है॥

उस ५ प्रकार = १ जन्म, २ औषधि, ३ मन्त्र, ४ तप, और ५ समाधि से उत्पन्न हुवे चित्तों में से ध्यानोत्पन्न (समाधि से उत्पन्न) चित्त में आशय (क्लेश वासना और कर्म वासना) नहीं होते, इस लिये कैवल्य (मुक्ति) के लिये ध्यानज चित्त की प्रशंसा है॥

तौ क्या योगी कर्मशून्य हो जाता है? उत्तर = नहीं, किन्तु—

१६७–कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

योगी का कर्म पाप पुण्य रहित (निष्काम) और अन्य साधारणों का तीन प्रकार का होता है॥

योगी का कर्म निष्काम होने से न तो " पुण्य " में गिना जावे, न " पाप " में परन्तु अन्यों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं १—शुक्ल = पुण्य २ = अशुक्ल वा कृष्ण = पाप और ३-शुक्लकृष्ण = पुण्यपापमिश्रित । इनमें से १—तपः स्वाध्यायादि सात्विक कर्म " पुण्य " है । २-ब्रह्महत्यादि तामस कर्म " पाप " है । और ३-रजोगुणी कर्म राज्यादिपालन जिस में किसी पर अनुग्रह, किसी पर निग्रह करके काम चलाया जाता है = " पुण्यपापमिश्रित " है ॥

१६८–ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

उन (३ प्रकार के कर्मों) से उन्हीं के विपाकानुकूल गुणों वाली वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है ॥

सात्विकादि जैसे ३ कर्म होते हैं उन कर्मों के विपाक (फलोन्मुखता) के अनुसारिणी ही वासना प्रकट होती है । पकता हुवा कर्म जिस प्रकार के फल का आरम्भ करता है तदनुसार ही वासनाओं के समूह को प्रकट करता है, कभी पापकर्म से पुण्यवासना उत्पन्न नहीं होतीं । इस कारण प्राणी उत्पन्न होते = जन्म लेते ही अपनी जाति (मनुष्यत्वादि) के अनुसार ही स्तन्यदुग्धपानादि भोग भोगने लगता है । ऊंट का बच्चा कांटे ही चाबने लगता है । बिल्ली का बच्चा चूहों पर झपटने लगता है, तथा मछली तिरने और अपना भोग भोगने लगती है ॥

१६९–जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जाति, देश और काल से व्यवधान (फ़ासला) पाई हुई (वासनाओं) में भी निरन्तरता रहती है (क्योंकि) स्मृति और संस्कार के एकसा होने से ॥

चाहे मनुष्यादि अनेक जाति बीच में आचुकी हों, चाहे अनेक देशों का व्यवधान होगया हो, चाहे सहस्रों वर्ष आदि काल बीत गया हो तौ भी वासना लगातार रहती है उस में अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि स्मृति और संस्कार एक से बने रहते हैं । वासनायें जब प्रकट हों तब अपना काम करती हैं, परन्तु जब अन्य वासनाओं से दबी हों तब नहीं । वासनाओं के प्रकट होने वा दबने का कारण उन का अभिव्यञ्जक (प्रकट करने वाला) पदार्थ है, चाहे कितना ही जाति, देश और काल का व्यवधान होजावे, वासनायें जब अवसर पावेंगी (अभिव्यञ्जक पदार्थ जहां सामने आया) तभी प्रकट होकर अपना काम करने लगेंगी । कर्म से वासना, वासनाओं से स्मृति, स्मृति से फिर वासना, वासना से फिर कर्म, यही परम्परा है ॥

१७०–तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

और उन (वासनाओं) को अनादिता है, आशिष् के नित्य होने से ॥

मैं सदा सुखी रहूं, कभी दुःखी न होऊं, इत्यादि आशिष् वा प्रार्थना जीव मात्रमें नित्य पाई जाती है, यह आशिष् वासना विना नहीं हो सकती इससे वासना (प्रवाह रूप से) अनादि जान पड़ती है। मरने का भय प्राणिमात्र को जन्मते ही हो जाता है। यद्यपि इस जन्म में उसने अभी मरण दुःख का अनुभव नहीं किया तथापि मृत्यु का त्रास उसमें पाया जाता है, इससे वासनाओं का देह के साथ उत्पन्न होना नहीं पाया जाता किन्तु वासनाओं का पूर्व जन्म से आना पाया जाता है। इस से इस जन्म का कारण पूर्वजन्म की वासना, उनका कारण पूर्वजन्म के कर्म, उनका कारण पूर्व जन्मस्थ देह, उस देह का कारण उससे भी पहिली वासना, इसी प्रकार अनादि प्रवाह चला आता है। जैसे बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से बीज, यह अनादि प्रवाह है। इसी प्रकार वासनाओं से जन्म, जन्म से वासना, यह भी अनादि प्रवाह है। सब से पहला जन्म कोई नहीं, इस लिये सबसे पहली कोई वासना नहीं कही जा सकती, इस कारण वासनाओं को अनादित्व है॥

१७१–हेतुफलाश्रयालम्बनैः संग्रहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

(वासनायें) हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत होती हैं इस कारण उन (हेतु आदि ४) के अभाव होने पर उन (वासनाओं) का अभाव हो जाता है॥

अविद्यादि क्लेश और पुण्यादि कर्मों को हेतु कहते हैं, इन हेतुओं से वासना उत्पन्न होती हैं। जाति आयु और भोग को फल कहते हैं, क्योंकि वासना वृक्षों पर जाति आयु भोग रूप फल लगते हैं। अधिकार सहित चित्त को आश्रय कहते हैं क्योंकि वासनायें चित्त में रहती हैं। और शब्द स्पर्शादि विषयों को आलम्बन कहते हैं, क्योंकि वासनायें शब्दादि का सहारा लेती हैं। इस लिये वासनाओं का अभाव तब हो सकता है जब कि वासनाओं के हेतु=अविद्यादि क्लेशों का अभाव हो, और जबकि वासनाओं के फल=जाति आयु भोगों का अभाव हो, और जब कि वासनाओं के आश्रय=साधिकार चित्त का अभाव हो, और जब कि वासनाओं के आलम्बन=शब्दादि विषय न हों। सो यह अवस्था कैवल्य (मुक्ति) से पहिले नहीं हो सकती। अतएव केवल कैवल्य पद में वासनाओं का अभाव जानना चाहिये॥

क्यों जी! योग शास्त्री लोग तो सत्कार्यवादी हैं, वे अभाव से भाव वा भाव से अभाव नहीं मानते फिर वासनाओं का नाश वा अभाव कैसे मान सकते हैं जैसा कि पूर्व सूत्र (१७१) में वासनाओं का अभाव लिखा है? उत्तरः—

१७२–अतीताऽनागतं स्वरूपतोऽस्त्यऽध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

(महदादि) धर्मों के मार्गभेद से भूत और भविष्यत् की सत्ता होती है।

वासनाओं के अभाव कहने से वासनाओं का अत्यन्ताभाव नहीं कहा, किन्तु वासनायें भूतमात्र अर्थात् अतीत हो जाती हैं। वर्तमान के समान भूत वस्तु भी तौ महदादि पदार्थों के मार्ग भेद से भावरूप ही है अभावरूप नहीं। वासनादि वा महदादि पदार्थ चित्त को आशयों से युक्त नहीं कर सकते जब कि वे अतीत (गुज़र गये) हों। अतएव चित्त साऽऽशय न होने से वे कैवल्य (मुक्ति) में बाधक नहीं हो सकते॥

१७३-ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे (धर्म = महदादि) व्यक्त और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणस्वरूप हैं।

सत्व रज तम नाम ३ गुणों से जितना कार्य प्रपञ्च महत्तत्वादि रूप में परिणत होकर भूत भविष्यत् वा वर्तमान अवस्था में है वह व्यक्त और सूक्ष्म दो भेद वाला है। जब वर्तमान हो तब व्यक्त (प्रकट) कहाता है, और जब भूत वा भविष्यत् हो तब सूक्ष्म कहाता है।

यदि सब वस्तु (कार्य मात्र) त्रिगुणयुक्त और त्रिगुणस्वरूप ही हैं तौ फिर एक शब्द, एक पृथिवी, एक वायु, एक घट, एक पट इत्यादि वस्तु एक २ कैसे कही हैं। वे तौ तीन तीन हुईं ? उत्तर :—

१७४-परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणाम के एक होने से (उस उस) वस्तु का तत्व है।

जैसे दीवा तेल बत्ती अग्नि के संयोग से एक दीपक रूप जो परिणाम हुवा वह परिणाम एक होने से एक दीपक कहाता है, अथवा जैसे तन्तु (सूतों) के बुनने से जो परिणाम वस्त्र रूप हुवा, वह एक हैं इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक होने पर भी परिणाम (जिस में कि वह वस्तु वर्तमान है) एक होने से वह वस्तु एक है॥

कोई लोग शङ्का करते हैं कि सूत्र (१७३) में जो सब महदादि वस्तुओं को त्रिगुणात्मक माना है, सो क्यों ? हम तौ यह मानते हैं कि विज्ञान (चित्त) ही एक वस्तु है, वही कार्य कारण रूप से अनेक नाम रूपों से कहा माना जाता है। उत्तर :—

१७५-वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

उन दोनों (विज्ञान = चित्त और ज्ञेय वस्तु) का मार्ग भिन्न है (क्योंकि) समान वस्तु में (भी) चित्त भिन्न भिन्न होने से।

एक स्त्री रूप वस्तु में पति के चित्त को सुख, सपत्नी के चित्त को दुःख और सन्यासी के चित्त को वैराग्य होता है तौ स्त्री रूप वस्तु यदि चित्त से भिन्न सद्रूप

न होतो तो अनेक चित्तों वाले पति, सपत्नी और संन्यासी को सुख, दुःख और वैराग्य भिन्न २ न होते। इस से पाया जाता है कि चित्त और स्त्री आदि ज्ञेय वस्तु एक नहीं ॥

यदि कहो कि वस्तु केवल एक चित्त के अधीन ही होता है, अनेक चित्तों के नहीं, सो नहीं बनता:—

१७६—न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु, तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

वस्तु एक चित्त के ही अधीन नहीं, जब कि उस (वस्तु) में प्रमाण = चित्त न लगा रहे तब क्या हो ?

यह कहना ठीक नहीं कि वस्तु एक चित्त के ही अधीन है, क्योंकि हम देखते हैं कि एक समय चित्त एक वस्तु को ग्रहण करता है, दूसरे समय उस वस्तु को छोड़ कर अन्य में लग जाता है तो क्या जब चित्त दूसरी वस्तु में जा लगा तब पहली वस्तु अप्रमाण है ? अर्थात् बिना चित्त के है ? यदि नहीं तो अन्यों को वही वस्तु क्यों उपलब्ध होती है ? यदि है तो क्या है ? बस मानना पड़ेगा कि चित्त से अर्थ (चित्त का विषय घट पट स्त्री पुत्रादि) भिन्न हैं, चित्तही का बिकार मात्र नहीं। इसीसे शङ्करमतानुयायियों का दृष्टिसृष्टिवाद भी सूत्रकार के तर्कों से खण्डित हुवा ॥

१७७—तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥१७॥

चित्त के वस्तूपरागापेक्षित होने से वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

जब वस्तु का उपराग (सामने होने का प्रभाव) चित्त पर पड़ता है तब वह वस्तु ज्ञात होती है, और जब वस्तु का चित्त पर उपराग न हो तब वह वस्तु ज्ञात नहीं होती, क्योंकि चित्त उस (वस्तु) के उपराग की अपेक्षा रखता है ॥

१७८—सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

(परन्तु) चित्त की वृत्तियें सदा ज्ञात रहती हैं क्योंकि उस (चित्त) का प्रभु पुरुष (जीवात्मा) परिणामी नहीं।

यदि चित्त के समान पुरुष = जीवात्मा भी परिणामी होता तो जैसे घटपटादि वस्तु कभी सामना पड़ने पर ज्ञात और सामना न पड़ने पर अज्ञात होती हैं, वैसे ही चित्तवृत्तियें भी ज्ञात और अज्ञात हुवा करतीं; परन्तु पुरुष (जीवात्मा) के परिणामी (बदलने वाला) न होने से चित्तवृत्तियें सदा ज्ञात रहती हैं क्योंकि चित्तवृत्तियों का प्रभु जीवात्मा सदा वर्तमान रहता है और परिणामी नहीं होता ॥

१७९-न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

वह (चित्त) स्वयं प्रकाश भी नहीं हो सकता दृश्य (जड़) होने से।

जो जो वस्तु दृश्य हैं उनको परिणामी = बदलता देखा जाता है और चित्त को भी बदलता देखते हैं एकसा नहीं रहता। बदलती वह वस्तु है जिसमें से कुछ निकल जावे वा जिसमें अन्य कुछ समा जावे। यदि ऐसा हो तो चित्त के परिणामी होने से किसी पूर्वानुभूत विषय का किसी को उत्तर काल में ज्ञान न रहे और रहता है। इस से जाना जाता है कि अपरिणामी स्वयं प्रकाश चेतन आत्मा चित्त से भिन्न है, चित्त स्वयं आत्मा नहीं॥

१८०-एक समये चोभयाऽनवधारणम् ॥ २० ॥

और एक समय में दोनों का ग्रहण न होगा।

यदि चित्त और आत्मा को एक ही पदार्थ माने और वह परिणामी भी हो तो एक समय में चित्त और उसके विषय = दोनों का ग्रहण न होगा क्योंकि चित्त से क्षणिकों के मत में पूर्व क्षण का चित्त उत्तर क्षण में बदल जाता है तो ऐसा क्षण कोई भी न होगा जिसमें चित्त और चैत्य (चित्त विकार घट पटादि) दोनों की सत्ता हो क्योंकि जब जिस चित्त से जिस घटादि की कल्पना हुई उस समय पूर्व समय वाला कल्पक चित्त झट बदल गया बस फिर वस्तु का ज्ञान किसको हो ? इसलिये चित्तसे भिन्न ही जीवात्मा स्वतन्त्र होना सिद्ध हुआ। ऐसा मानने से जानने वाला और जानने योग्य वस्तु दोनों एक समय रहते और निश्चित होते हैं। पर यदि चित्त को ही स्वतन्त्र ज्ञाता मानलें तो किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान न हो सके, क्योंकि जब वस्तु हो तब वह जानने वाला चित्त झट बदल जावे फिर जाने कौन ?

१८१-चित्तान्तरदृश्यबुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

यदि एक चित्त को चित्तान्तर (अन्य चित्त) का दृश्य मानें तो चित्त का चित्त मानना रूप अनवस्था दोष होगा और स्मृतियों का सङ्कर (एकमेक) हो जायगा।

अनात्मावादी यदि ऐसा कहें कि एक चित्त का द्रष्टा अन्य चित्त मानलें और पूर्वोत्तर चित्तों में ही द्रष्टा और दृश्य भाव मानें तो क्या दोष आवेगा ? इसका उत्तर यह सूत्र देता है कि ऐसा मानने से चित्त का चित्त मानना रूप अनवस्था दोष होगा और स्मृतियें भी परस्पर मिलकर सङ्कर (दुमेल) को प्राप्त होंगी भिन्न२ रहेंगी अतएव एक अपरिणामी आत्मा मानना ही ठीक है। क्योंकि एक काल में अनेक भिन्न विषयक स्मृति होंगी तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति किसको किस स्मृति के अनुकूल होगी ? स्मृतियें परस्पर टक्कर खायेंगी और इन्द्रियें अपने काम में प्रवृत्त न हो सकेंगी॥

अब यह कहते हैं कि आत्मा किस प्रकार चित्त को प्रकाशित करता है:-

१८ —चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् । २२ ॥

अपरिणामी चेतन (जीवात्मा) के चित्ताकार को प्राप्त होने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है ॥

यद्यपि आत्मा अपरिणामी होने से चित्त के से आकार में परिणत नहीं हो जाता परन्तु चित्त में आत्मा के सन्निधान मात्र से आत्मा तदाकार (चित्ताकर) जाना जाता है। जैसे शुद्ध स्फटिक मणि को बीच में रख कर तीन ओर तीन रङ्ग के पुष्प रखदो तौ चौथी ओर जिधर कोई पुष्प नहीं है उधर से स्फटिक मणि शुद्ध श्वेत निर्मल जान पड़ेगा, और नील पुष्प की ओर उसकी छाया (झलक) से स्फटिक भी नीला जान पड़ेगा और रक्त वर्ण पुष्प की ओर से रक्त प्रतीत होगा, तथा पीतवर्ण पुष्प की ओर से स्फटिक भी पीत समझ पड़ेगा पर वास्तव में स्फटिक स्वयं शुद्ध है उस में रक्त पीत नील कोई रङ्ग नहीं, ऐसे ही केवल पुष्प में न वासना, न स्मृति न कुछ है, किन्तु पुरुष में जैसे चित्त की समीपता होती है वह तदाकार जान पड़ता है, इसी से पुरुष अपने चित्त को ज्ञात कराता है ॥

१८३—द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यों से रङ्गा हुवा चित्त सर्वार्थ (जान पड़ता है) ॥

चित्त पर द्रष्टा पुरुष का और दृश्य घट पटादि का उपराग पड़ता है इस कारण चित्त ही को बौद्धादि अनेक लोगों ने भ्रान्ति से सब कुछ अर्थात् द्रष्टा भी और दृश्य भी मान लिया है। वे दयापात्र कहते हैं कि चित्त ही द्रष्टा है और वही दृश्य है न तौ चित्त के अतिरिक्त कोई चेतन द्रष्टा है, न चित्त के अतिरिक्त कोई अचेतन घट पटादि कार्य हैं न उसके कारण प्रकृति वा महत्तत्वादि हैं। यह भ्रान्ति उनको इसी से होती है कि चित्त एक तौ पुरुषोपरक्त है जिससे वही द्रष्टा जान पड़ता है और वही फिर दृश्य घट पटादि से उपरक्त है, अतः वही तदाकार होकर दृश्य समझ पड़ता है ॥

प्रश्न—भोग को हेतुभूत अनेक विचित्र वासनाओं से चित्रित चित्त ही को आत्मा क्यों न मान लिया जावे? उससे भिन्न भोक्ता पुरुष जो प्रसिद्ध नहीं, क्यों माना जावे ? उत्तर:—

१८४—तदऽसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

वह (चित्) अनगिनत वासनाओं से चित्र (रङ्ग विरङ्गा) भी परार्थ है क्योंकि जुड़ कर काम करने वाला है ॥

चित्त स्वतन्त्र नहीं किन्तु देह और इन्द्रियों से जुड़ कर काम करता है इसलिये यद्यपि वह अगणित वासनाओं से विचित्र भी है तथापि परार्थ है अर्थात् पर = चेतन आत्मा पुरुष के लिये है अपने लिये नहीं। चित्त जो कुछ भोग वा मोक्ष के उपाय करता है सब पुरुष के लिये, अपने लिये नहीं ! क्योंकि स्वयं तो परिणामी है जब वह स्वयं बदल जाने वाला (परिणामी) है, तब फिर वह अपने लिये भोग मोक्ष क्या संपादन करे वह तो अगले क्षण में ही न रहेगा, बदल जायगा, परिणित हो जायगा ॥

प्रश्न—क्यों जी ! यह जो चित्त और पुरुष का विवेक युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है इससे लाभ क्या है ? अर्थात् यदि वह चित्त और आत्मा का विवेक न होता तो क्या हानि थी ? और विवेक दर्शन से क्या लाभ हुवा ? उत्तरः—

१८५—विशेषदर्शिन आत्मभावभावना निवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेषदर्शी आत्मभावभावना की निवृत्ति होजाती है ॥

पूर्वोक्त प्रकार के युक्तिपूर्वक चित्त और पुरुष को भेदपूर्वक जानना विशेषदर्शीपना है ऐसे विवेकी विशेष ज्ञानी योगी को फल यह होता है कि आत्मा के भावों की भावना निवृत्त हो जाती है। आत्मा के भावों की भावना यह है कि मैं कौन था, कौन हूं, कैसे यहां आया इत्यादि चिन्तायें मन में करना। जब तक पुरुष, पुरुष के और चित्त के भिन्नत्व को नहीं जानता तब तक ये भावनायें (चिन्तायें) रहती हैं, जानने पर निवृत्ति हो जाती है क्योंकि उस विशेषदर्शी विवेकी ज्ञानी को ज्ञात होजाता है कि जन्मादि व्यवस्था अवस्था सब देह वा चित्त की हैं उनसे मैं पृथक् हूं, जन्म, मरण, शोक, मोह इत्यादि चित्त के वा देह के साथ से चित्त को वा देह को ही आत्मा समझने तक अविद्या से मुझे सताते थे पर अब जब कि यह भेद मैंने जान लिया तब इनकी चिन्ता क्यों करूं, मेरे लिये अब यह चिन्ता वा भावना व्यर्थ हैं, क्योंकि स्वरूपतः मैं (पुरुष) इस सब से भिन्न चेतन हूं। यद्यपि भोजवृत्तियुक्त तथा अन्य कई पुस्तकों में "विनिवृत्तिः" पाठ है, परन्तु हमने तो व्यास भाष्य के अनुसारी होने से "निवृत्ति" पाठ ही ठीक माना है ॥

१८६—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तब विवेक से गम्भीर चित्त मोक्ष की ओर फिर जाता है ॥

जब आत्मभावना निवृत्त हो जाती है तब उस विशेषदर्शी विवेकी ज्ञानी का चित्त बुद्धिसत्व और पुरुषके विवेकसे गम्भीर (भरा हुवा) कैवल्य (मोक्ष) के प्राक् (सामने) भरने वाला हो जाता है अर्थात् चित्त का प्रवाह विषयों से हट कर मोक्ष की ओर फिर जाता है। एक पुस्तक में " भारं " के स्थान में "भावं" पाठ भी माना है तब भी लग भग वही तात्पर्यार्थ निकलता है ॥

अब (१८७) में उस विवेकी के विघ्न और विघ्नों के कारण बता कर (१८८) में उनसे बचने का उपाय बताते हैं कि:—

१८७–तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

उस विवेक प्रत्यय के छिद्रों में अन्य प्रत्यय होते हैं ॥

जब२ उस विवेक (चित्त और देहादि से पुरुष को भिन्न जानने) में छिद्र होते हैं अर्थात् बीच बीच में जब जब वह विवेक शिथिल हो कर छिद्र (विघ्न) को अवसर देता है तब तब पुराने संस्कारों से अन्य अविवेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। उनके त्यागने वा उनसे बचने का उपाय:—

१८८–हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

उनका त्याग क्लेश (त्याग) के समान कहा गया।

जैसे क्रिया योग द्वारा क्लेशों के नाश का उपाय द्वितीय पाद के आरम्भ सूत्रों में बताया है उसी प्रकार इन अन्य प्रत्ययों के नाश का भी उपाय करे।

१८९–प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्या में भी लिप्सा न करने वाले (योगी) को सर्वथा विवेक ख्याति से " धर्ममेघ " नामक समाधि (सिद्ध हो जाती) है।

प्रकृति और उसके कार्य देहादि से पुरुष चेतन को भिन्न अनुभव करने का नाम " प्रसंख्यान " है। जब योगी इस प्रसंख्यान में भी लिप्सा वा लालच त्याग देता और विरक्त हो जाता है तो उसको सर्वथा ही " विवेक ख्याति " अर्थात् विवेक के सदा एक रस उदय से समाधि सिद्ध होती है उस समाधि का नाम " धर्ममेघ " है। धर्ममेघ का अर्थ यह है कि जिसका फल मुक्ति कैवल्य हो, जिसमें क्लेश कर्म आदि की निःशेष भाव से क्षीणता हो जावे, जिसमें पुण्य अपुण्य दोनों कर्म न हों, ऐसे धर्म की जिसमें वर्षा वर्षे। अर्थात् जब योगी विवेकज ज्ञान का कोई व्याज कुसीद लाभ वा फल नहीं चाहता, निष्काम हो जाता है तो इस योगी को " धर्ममेघ " नाम समाधि वा योग सिद्ध हो जाता है। जब तक चित्त वा बुद्धि सत्व और पुरुष के भिन्न २ स्वरूप को विवेकज ज्ञान से जानता रहता है तब तक पुरुष स्वरूप के साथ बुद्धिसत्वादि को भी पुरुष जान कर न सही भिन्न जान कर ही सही पर जानता तो रहता है। बस बुद्धि सत्वादि को जानते रहने वा विषय करने से यह भय है कि कभी फिर व्युत्थान हो जावे, कभी फिर ये प्राकृत पदार्थ पिछले संस्कारों का उदय करादें परन्तु जब योगी इस विवेकज ज्ञान से पाये भेद ज्ञान से भी आगे बढ़ जाता है, अर्थात् इस विवेक से भी विरक्त हो जाता है, तब सर्वथा विवेक हुवा जानो और तभी "धर्ममेघ" समाधि योग सधा जानो॥

इसमें क्रम यह है कि " संप्रज्ञात " योग का फल "प्रसंख्यान" और प्रसंख्यान की पराकाष्ठा (परला दरजा) " धर्ममेघ " योग है, जिस के संस्कारों से "व्युत्थान"

संस्कार सर्वथा दब जाते हैं। इस "धर्ममेघ" की भी पराकाष्ठा "ज्ञानप्रसाद" है वा "परवैराग्य" है जिस में निर्बीज समाधि को पाजाता है।

१९०-ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तब क्लेश और कर्म निवृत्त हो जाते हैं।

जब "धर्ममेघ" समाधि सिद्ध हुई तो उस समाधि के बल अविद्यादि क्लेश और उन क्लेशों के मूल शुभाऽशुभ कर्म और उनकी वासनायें निवृत्त हो जाती हैं।

१९१-तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽनन्त्यज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

तब सब आवरण रूप मलों से छुटे ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञेय थोड़ा (अल्प) हो जाता है॥

जब कि पुरुष स्वरूप से चेतन है, ज्ञान का अधिकरण है तो उसको कोई पदार्थ भी अज्ञेय (जो न जाना जा सके) नहीं हो सकता वह सब कुछ जान सकता है, परन्तु क्लेश जो अविद्यादि हैं, उनसे और पाप पुण्य रूप कर्मों और उनकी वासनाओं से पुरुष पर आवरण (ढकना) रूप मल छा जाने से पुरुष को ज्ञान नहीं होता कभी २ कुछ रजोगुण की प्रवृत्ति से जब तमाम आवरण हटते हैं तब थोड़ा बहुत ज्ञान प्रवृत्त होकर संसार के असंख्य पदार्थों में से किसी २ पदार्थ के जतलाने में समर्थ होता है किन्तु पूर्वोक्त रीति से "धर्ममेघ" समाधि द्वारा क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति होकर आवरण ढकना वा परदा हट जाता है तो पुरुष चेतन है उसका ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को जानने में समर्थ अनन्त हो जाता है उस अनन्त ज्ञान की अपेक्षा सांसारिक असंख्य पदार्थ भी अल्प हो जाते हैं, वह जब चाहे, जिसे चाहे झट जान सकता है। बस असंख्य परन्तु सान्त पदार्थों को तुच्छ समझता हुआ वह योगी पुरुष केवल परमात्मा के अनुभव का आनन्द पाता है। उसकी दशा पर व्यासभाष्य में इस सूत्र पर व्यासजी एक आश्चर्यान्वित पहेली लिखते हैं कि:—

अन्धोमणिमाविध्यत् तमनंगुलिरावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिव्होऽभ्यपूजयत् ॥ १ ॥

अन्धे ने मणि को बींधा, बिना अङ्गुलियों वाले ने उसे पिरोहा (सूत्र के डोरे पर चढ़ाया) ग्रीवा (गरदन) वा कण्ठ जिसका नहीं उसने उस (मणि) को पहरा और बिना जीभ वाले ने उसकी प्रशंसा की।

यह एक कल्पना है कि इस दशा में योगी को सब काम सम्भव हो सकते हैं जो अयोगी को असम्भव हैं। जैसे मणि बींधने को आंख चाहिये, अन्धा मणि नहीं बींध सकता उस मणि में डोरा धारा पिरोहने को अङ्गुलि की आवश्यकता है,

बिना अङ्गुलियों वाला लुञ्जा उसे नहीं पिरोह सकता उसके भूषण रूप से पहरने (परिधान) के लिये ग्रीवा गर्दन वा कण्ठ की अपेक्षा है कबन्धवा रुण्डमुण्ड जिसकी ग्रीवा कटने से शिर अलग होकर धड़ रह गया हो, वह कण्ठ भूषण के प्रकार से उस मणि को पहर नहीं सकता, उस मणि की प्रशंसा करने वाले की जीभ अवश्य होनी चाहिये, बिना जिह्वा वाला गूङ्गा उसकी प्रशंसा वा स्तुति नहीं कर सकता इन चारों दृष्टान्तों की असम्भवता को दिखा कर व्यास जी योगी के लिये सम्भव करते हुये यह बताते हैं कि योगी तब सब कुछ जान सकता और सब कुछ कर सकता है। उस योगी की यथार्थ दशा अन्यों की वाणी से तो कही ही नहीं जा सकती, बस बाह्य जगत् के सार असम्भव दृष्टान्तों से पढ़ने वालों के चित्त में जैसे तैसे ग्रन्थकार उस तात्पर्य को जंचाते हैं ॥

जैसे वेदान्त का सार समझाने को केन उपनिषद् में कहा है कि:—

यस्याऽमतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमऽविजानताम् ॥ १ ॥

अथवा जैसे परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को समझाने के लिये कहा गया है कि:—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । (श्वेताश्वतरोपनिषदि) अथवा
अपाणिपादोजवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, इत्यादि श्वेताश्व० ३।१९

इसी प्रकार बिना देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण के भी सब कुछ जान सकने से उस योगी मुक्त पुरुष के ज्ञान को अनन्त और ज्ञेय जगत् के पदार्थों को अल्प कहा गया है। यहां भी इस योगी की सर्वज्ञता और परमेश्वर की सर्वज्ञता में जो अन्तर है, वह सूत्र (१३८) के व्याख्यान में लिख आये हैं, तदनुसार ही जानिये ।

१९२—ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

फिर कृतार्थ गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है ।

उस ज्ञान की अनन्तता और ज्ञेय की अल्पता होने पर गुण = सत्व रज तम कृतार्थ हो जाते हैं अर्थात् गुणों के परिणाम (अदल बदल) का क्रम (सिलसिला) भी समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे मुक्त पुरुष के लिये त्रिगुणात्मक प्रकृति का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। केवल कैवल्य दशा में ब्रह्मानन्दाऽनुभव रहता है।

अब गुणों के परिणाम क्रम में जो "क्रम" शब्द है उस क्रम शब्द का अर्थ अगले सूत्र में बताते हैं।

१९३—क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

क्षण का विरोधी और परिणाम के उपरान्त से गृहण किया जाने वाला क्रम है ॥

"क्रम" उसको कहते हैं कि जो क्षण क्षण में पदार्थ का स्वरूप बदल देता है और जो सब से अन्त में होने वाले परिणाम (तग़ैयुर) से गृहण किया जावे। अन्य पदार्थों के समान काल के भी दो अन्त (किनारे वा छोर) मान कर "अपरान्त" का अर्थ यह होगा कि काल का पहला अन्त (किनारा) "पूर्वान्त" और परला अन्त "अपरान्त" है। जैसे सौ वर्ष की मनुष्य की आयु में पहिले क्षण को "पूर्वान्त" और अन्तिम क्षण को "अपरान्त" कह सकते हैं। बस जिस से प्रत्येक प्राकृत पदार्थ में पहले परिणाम से अन्त के परिणाम तक द्रव्य परिणाम होते हैं उसको "क्रम" कहते हैं। इस सूत्र में परिणाम शब्द से १-धर्मपरिणाम, २-लक्षणपरिणाम और ३-अवस्थापरिणाम को एक द्रव्य परिणाम के अन्तर्गत समझ कर कहा गया है। जैसा कि व्यास जी अपने भाष्य में सूत्र ३। १३ (११६) पर कहते हैं कि "धर्मी का भी धर्मान्तर अवस्था है और धर्म का भी लक्षणान्तर अवस्था ही है इस कारण एक द्रव्य परिणाम ही भेद से वर्णित किया गया है"॥

अब गुणों की और उनके परिणामों की समाप्ति पर "कैवल्य" का लक्षण करके गृन्थ समाप्त करते हैं।

१९४-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ३४॥

पुरुष के लिये प्रयोजन शून्य गुणों का अपने कारण में लय वा "चिति शक्ति" का अपने स्वरूप से स्थित रह जाना "कैवल्य" है।

पुरुष के लिये भोग मोक्ष संपादन कराने को दृश्य (प्राकृत) गुणों का प्रयोजन है, जब उक्त प्रकार पुरुष को भोग के त्याग पूर्वक मोक्ष छुटकारा वा कैवल्य प्राप्त हो गया तो सत्वादि गुणात्मिका प्रकृति के महत्तत्वादि कार्य अपने कारण में प्रातिप्रसव (लय) को प्राप्त हो जाते हैं संस्कार मन में, मन अस्मिता में, अस्मिता महत्तत्व में और महत्तत्व प्रकृति में लीन हो जाता है और चेतन आत्मा जीव वा पुरुष की चित्ति शक्ति केवल अपने स्वरूप मात्र से स्थित रह जाती है। इस दशा को इसी कारण से "कैवल्य" कहते हैं। इसी के मुक्ति मोक्ष निर्वाण इत्यादि भाववाचक नाम है। जब कार्यकारण रूप गुण अपने २ कारण में लीन हुवे तो पुरुष का लिङ्ग शरीर भी छूटा लिङ्ग शरीर छूटने से पुरुष का वृत्तिसारूप्य गया वृत्तिसारूप्य न रहने से बस स्वकीय चेतन स्वरूप मात्र से पुरुष की स्थिति रह गई, यही सब संसार से छूटना मुक्ति वा कैवल्य है। इस दशा में आत्मा को परमात्मा का अनुभव अवश्य होता है। यद्यपि सूत्रकार ने इस सूत्र में कहा नहीं, पर ब्रह्मानन्द का निषेध भी नहीं किया। यदि कहो कि तब अनुभव करने के साधन बुद्धि आदि अन्तःकरण और चक्षुरादि बहिःकरण नहीं रहने से यह पुरुष परमात्मा का अनुभव कैसे करेगा? तो उत्तर यह है कि अन्य पदार्थ पुरुष के चेतनस्वरूप से बाहर और दूर हैं, उनके अनुभव करने को मध्य साधन अन्तःकरण और बहिः करणों की आवश्यकता है,

परन्तु परमात्मा तौ पुरुष में अन्तर्यामि रूप से वर्तमान है उस के अनुभव करने में किसी साधन की आवश्यकता नहीं। यदि कहो कि पतञ्जलि मुनि ने समस्त योग शास्त्र बनाया पर अन्त में इतनी बात (ब्रह्मानन्द का अनुभव) क्यों नही कहीं ? तौ उत्तर यह है कि छहों दर्शन ही मुक्ति के साधन वर्णन करते हैं साधनों की संख्या और प्रकारों में भेद है लक्ष्य में नहीं। अन्य शास्त्रों में भी कर्म के लेप से बचने द्वारा मुक्ति का कथन है परन्तु इस योगदर्शन ने जिन उपायोंको केवल दर्शन (फ़िलासफ़ी) रूप वाङ्मय नहीं रक्खा किन्तु वह क्रिया बतलाई, जिस प्रकार वर्तने से वे साधन काम दें और अन्त में फलजनक होकर मुक्ति दिला सकें॥

भोजराज ने अपनी वृत्ति में नैयायिकों वेदान्तियों और मीमांसकों के पक्षों का खण्डन किया है परन्तु वह खण्डन नवीनों पर लगता हो गौतमादि के प्राचीन वेद सम्मत दर्शनों पर नहीं॥

सब से प्रथम वेदान्तियों पर आक्षेप हैं, सो केवल अद्वैतवाद पर किन्तु अद्वैत हम वैदिक वेदान्तियों को अभिमत नहीं। व्यास जी के शारीरक सूत्रों में अद्वैत नहीं अद्वैत श्रुतियों (उपनिषद्वाक्यों) से एकवाक्यता दिखाने वाले भाष्यकारों ने जो आधुनिक हैं, उपनिषदों के वाक्यों का तात्पर्य अन्य लगा लिया परन्तु जिस प्रकार अद्वैत श्रुतियों की सङ्गति होनी चाहिये सो हमने श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य में बतलाई है, यहां लिखने से ग्रन्थ बढ़ेगा। भला जो व्यास जी शारीरक रूप (वेदान्त) के निर्माता हैं वही योगदर्शन के ऊपर भाष्य करते हुवे इस कैवल्य निरूपक सूत्र में वा अन्यत्र कहीं भी सारे भाष्य में क्या वे योगदर्शन के मत को अपने मत से विरुद्धता का परिचय न देते ? पर वास्तव में वेदान्त और योग में परस्पर विरोध है ही नहीं॥

इसी प्रकार नैयायिकों के "आत्मस्वरूप" में जो भोजवृत्ति में दूषण दिया है वहभी गौतम के सूत्र **इच्छा द्वेष प्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्** पर नहीं घटता क्योंकि इच्छा द्वेषादि को आत्मा का स्वरूप गौतम मुनि ने नहीं कहा किन्तु चिह्न कहा है, अर्थात् जो लोग बुद्धि आदि को ही आत्मा मानते हैं उनके खण्डनार्थ उन्हों ने देह में आत्मा (बुद्धि आदि से) चेतन भिन्न है इसकी पहचान इच्छा द्वेषादि ६ बताई हैं। उनको "लिङ्ग" वा चिह्न कहा है "स्वरूप" नहीं कहा। न यह कहा कि मुक्ति में भी इच्छा द्वेषादि रहते हैं। हमने समस्त न्यायदर्शन पर योगदर्शन के समान भाष्य किया है पर कहीं नहीं देखा कि गोतम मुनि मुक्ति=कैवल्याऽवस्था में सुख दुःखादि का सम्बन्ध मानते हों विशेष कर "अपवर्ग" का निरूपण करते हुवे सूत्र २ में ही दुःख का नाश कहा है। भला दुःख को आत्मा का स्वरूपेण लक्षण मानते तौ आरम्भ सूत्र (२) में ही अपवर्ग (मोक्ष) में दुःख का नाश क्यों कहते ? गोतम मुनि ने सूत्र ६ में भी "अपवर्ग" को प्रमेय ठहरा कर वर्णन किया है, उसका योगदर्शन से कोई विरोध नहीं॥

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन वाले भी कर्म करने वाला कर्त्ता आत्मा वा पुरुष मानते हैं सो चेतन पुरुष में ही ज्ञान पूर्वक कर्म बन सक्ता है अचेतन में नहीं। मुक्ति में निष्कर्म हो जाना इस बात का प्रमाण नहीं कि पुरुष कर्म कर्त्ता ही नहीं। जो मनुष्य बोल सकता है उसका चुप होजाना उसके मूकपने का साधक नहीं। किन्तु प्रयोजन बोलने का न रहने से चुप है जब प्रयोजन था तब बोलता था। इसी प्रकार पुरुष संसार दशा में कर्म करने की आवश्यकता और कर्म करने के साधन इत्यादि होने से कर्म करता था आवश्यकता और साधन दोनों ही मोक्ष में छूट गये तब कर्म नहीं करता न करना चाहता इस से उस में कर्तृत्व सामर्थ्य का भी अभाव नहीं सिद्ध होता॥

मीमांसादर्शन के आरम्भ से ही चतुर्थ सूत्र ४ **सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म०** इत्यादि से स्पष्ट केवल पुरुष को बुद्धि जन्म नहीं मान कर इन्द्रिय संयोग से ही बुद्धि की उत्पत्ति मानते हैं इसलिये उनका भी पुरुष के कैवल्य में कोई विरोध नहीं। आगे भोजवृत्ति ने अन्य कई मतों का भो खण्डन किया है सो ठीक है, वे मत वैदिक मुनियों के दर्शनों को अभिमत नहीं अतः उन अन्य मतों का निराकरण युक्त है॥

इस प्रकार देखा जावे तो मुक्ति विषय में शास्त्रों का विरोध नहीं है। इस प्रकार इस पाद में सब सिद्धियों की मूल भूत समाधि सिद्धि का वर्णन करके जात्यन्तर परिणाम का कारण प्रकृत्यापूर बताया फिर धर्मादि को प्रतिबन्ध वा रुकावटों का हटाने वाला मात्र कह कर अस्मिता मात्र से निर्माण चित्तों का सम्भव समझा कर अन्य चित्तों से योगी के चित्त की विलक्षणता कहकर योगी के कामों की अलौकिकता निरूपित करके विपाक से लिपटी वासनाओं के प्राकट्य का कथन कर कार्य-कारण के एकत्व से व्यवहित भी वासनाओं में भी निरन्तरता (लगातार होना) प्रति पादित किया। अतीतादि भागों में भी धर्मों के सद्भाव का वर्णन करके, विज्ञानवाद का खण्डन और स्वतन्त्र चेतन पुरुष को सिद्ध कर चित्त द्वारा उसमें सब व्यवहार सिद्ध किये गये। अन्त में दश सूत्रों में "कैवल्य" के निर्णयार्थ क्रम से उपयोगी बातें बता कर "कैवल्य" का स्वरूप बताते हुवे यह चतुर्थ पाद और योग दर्शन ग्रन्थ समाप्त किया गया॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते योगदर्शन भाषानुवादे चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

समाप्तञ्चेदं योगदर्शनम् ॥

* ओ३म् *

योगसूत्र वर्णानुक्रमणी

पुस्तक मिलने का पता—

पं० छुट्टनलाल स्वामी,

स्वामी प्रेस मेरठ शहर ।